नया संसार बसाएँगे
नया इनसान बनाएँगे

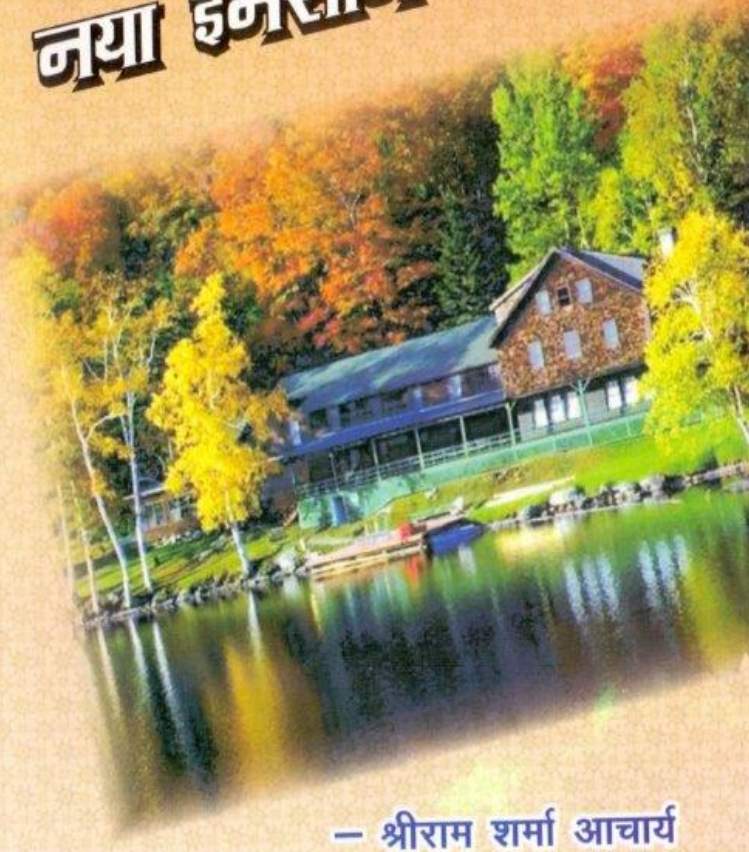

— श्रीराम शर्मा आचार्य

नया संसार बसाएँगे
नया इनसान बनाएँगे

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४ मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

'वसुधैव कुटुंबकम' का सैद्धांतिक आधार

मनुष्य को भगवान ने बहुत कुछ देकर इस पृथ्वी पर भेजा है। शारीरिक दृष्टि से वह कई प्राणियों की तुलना में कमजोर जरूर ठहरता है, पर बौद्धिक दृष्टि से उसके पास जो सामर्थ्य संचित है, परमात्मा ने बुद्धि और ज्ञान का–जो बहुमूल्य उपहार उसे प्रदान किया है, वह अपने आप में इतना महत्त्वपूर्ण है कि एक इसी के बल पर उसने संसार के समस्त प्राणियों को पीछे छोड़ दिया। कोई व्यक्ति दूसरों से तुलना करके अपने को भले ही अभावग्रस्त और असहाय समझता रहे, लेकिन वास्तविकता यह है कि वह न अभावग्रस्त है, न निर्बल और न निर्धन। यों रोना ही रोना हो तो–संपन्न से संपन्न व्यक्ति भी अपने पास किन्हीं वस्तुओं के अभाव की बात सोचते हुए असंतोष की आग में जलते रह सकते हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि दयनीय से दयनीय हालत में पड़ा रहने वाला मनुष्य भी न अभावग्रस्त है और न दयनीय।

अपनी महत्ता और सर्वोपरिता को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किए जाने के बाद भी मनुष्य की अंतरंग चेतना में श्रेष्ठता का भाव छिपा हुआ है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि दुखी से दुखी व्यक्ति भी अपने दु:खों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए मरना पसंद नहीं करते। भावावेश में आकर कोई व्यक्ति आत्महत्या कर ले, यह बात अलग है। किंतु सचाई यह है कि लोगों की अंतरंग चेतना में मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता का भाव इस प्रकार अपनी जड़ें जमाए हुए है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपने जीवन को खोना नहीं चाहता।

स्थिति और बाह्य उपलब्धियों की दृष्टि से कोई व्यक्ति भले ही साधनहीन दिखाई दे, पर यह सच है कि प्रत्येक व्यक्ति को जन्मजात रूप से सब कुछ न सही तो भी बहुत कुछ अवश्य मिला है। साधन–

संपन्न मनोबल प्रत्येक मनुष्य के पास है। बुद्धि की चमत्कारी क्षमता उसे प्राप्त है। इस क्षमता से वह संसार में उपलब्ध अगणित विशेषताओं से संपन्न पदार्थों को अपने लिए प्रयुक्त करता और उन पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लेता है। उसकी बौद्धिक क्षमता को, उसके चमत्कारों को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह असीम साधन-संपन्न संसार मानो उसी के लिए विनिर्मित किया गया है।

अपने बुद्धि-कौशल से उसने ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं का निर्माण किया है और अपनी सुविधा-सामग्री को असीम मात्रा में बढ़ाया है। इतना होने पर भी मनुष्य को संतोष नहीं हुआ, यह आश्चर्य की ही बात है। वह अधिकाधिक साधन-सुविधाएँ प्राप्त करने के प्रयत्न कर रहा है। उसके ये प्रयत्न अभी भी शिथिल नहीं हुए हैं, वरन दिनोदिन प्रखर ही होते चले जा रहे हैं। इससे सहज ही यह आशा बनती है कि अगले दिनों मनुष्य और भी अधिक साधन संपन्न होगा।

निस्संदेह बुद्धि-कौशल से उपार्जित साधनों की अधिक मात्रा में प्राप्ति होने के कारण मनुष्य का वैभव अतिशय बढ़ता चला जा रहा है। यद्यपि इस वैभव को अपर्याप्त कहा जाता है, नगण्य समझा जाता है और अभाव माना जाता है। इसका कारण सोचने-समझने की पद्धति में आई त्रुटियाँ ही हैं। यह अलग विषय है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि मनुष्य विश्व के अन्यान्य प्राणियों की तुलना में अधिक साधन संपन्न है और यही नहीं, मनुष्य अपने पूर्वजों की तुलना में भी अधिक साधन प्राप्त करने की दिशा में निरंतर प्रगति ही करता रहा है। प्रागैतिहासिक काल के मनुष्यों की स्थिति से आज के मनुष्य की उपलब्धियों की तुलना की जाए तो आकाश-पाताल का अंतर प्रतीत होगा। यही नहीं, अभी सौ-दो सौ वर्ष पूर्व के समाज की संपन्नता और साधन-सुविधाओं की दृष्टि से आज के समाज की तुलना की जाए तो यही कहना पड़ेगा कि वर्तमान स्थिति दो सौ वर्ष पूर्व के मनुष्य के लिए सर्वदा अकल्पनीय ही है। यह उपलब्धियाँ असाधारण ही नहीं, अद्‌भुत भी हैं, और इन्हें प्राप्त करने में एक ही मानवी विशेषता सक्षम हो सकी है वह है-मनुष्य का बुद्धि-कौशल तथा उसका पुरुषार्थ।

मनुष्य की उपलब्धियों को विपुलता की दृष्टि से देखा जाए तो वर्तमान स्थिति को निस्संदेह सुखद सौभाग्य कहा जाएगा। लेकिन जब यह प्रश्न किया जाता है कि क्या उपलब्धियों का सदुपयोग किया गया तो उत्तर में निश्चित ही बगलें झाँकनी पड़ेंगी। जो प्राप्त किया गया है, उसका सदुपयोग किस प्रकार किया जाए, यह न जानने अथवा इस दिशा में कुछ न सोचने के कारण, जिस-तिस ढंग से जैसा भी जो भी उपयोग किया जा रहा है, उससे कष्ट और विनाश की ही विभीषिकाएँ प्रस्तुत हुई हैं। विज्ञान को आज असीम शक्ति प्राप्त है। यदि उस शक्ति का उपयोग सृजनात्मक प्रयोजनों में किया जाए तो ऋतु-प्रभावों के नियंत्रण, आँधी-तूफान से होने वाले विनाश की रोकथाम, वर्षा और बाढ़ का संतुलन, समुद्र के खारेपन का निराकरण, खाद्य-वस्तुओं का अभिवर्द्धन और उनके स्तर में सुधार, विद्युत शक्ति की प्रखरता, थोड़े से व्यय से यातायात की सुविधाएँ तथा रोग-नियंत्रण जैसे अनेकानेक उपयोगी कार्य किए जा सकते हैं और वर्तमान दुनियाँ को अधिक सुखी, अधिक सुंदर तथा अधिक समुन्नत बनाया जा सकता है।

इन दिनों शिक्षा, शिल्प-कला, धन और शस्त्रास्त्रों के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने तथा उनकी सामर्थ्य विकसित करने की ही बात सोची जा रही है। यह ध्यान देना लगभग अनावश्यक ही समझा जा रहा है कि इन उपलब्धियों का श्रेष्ठतम सदुपयोग किस प्रकार किया जाए तथा उन्हें किस प्रकार प्रयुक्त किया जाए कि उससे सुख-शांति की परिस्थितियाँ बढ़ाई जा सकें। यदि इस दिशा में आगे भी उपेक्षा बरती जाती रही तो उपलब्धियों का बढ़ता जा रहा भंडार मनुष्य के लिए अगले दिनों विनाश की परिस्थितियाँ ही प्रस्तुत करेगा।

उदाहरण के लिए विज्ञान परमाणु रहस्यों को खोज लाने में समर्थ हुआ और एक बड़ा शक्ति-भंडार मनुष्य के हाथ में आ गया। पर इस उपलब्धि का सदुपयोग करने के स्थान पर दुरुपयोग करने की दिशा में ही अधिक प्रयास हुए हैं। अणुबम बना लिए गए हैं और उनका निर्माण इतनी विपुल संख्या में किया जा चुका है कि उससे समस्त धरती को क्षण भर में जला-भुनाकर भस्म कर दिया जाए। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा

प्रकाशित विवरणों के अनुसार यह विदित होता है कि संसार के अणु शक्ति संपन्न देशों के पास अणु बम, परमाणु बम, उद्‌जन बम आदि विनाशकारी उपकरणों का इतना विपुल भंडार भरा हुआ है कि इस पृथ्वी को एक बार नहीं सात-सात बार नष्ट किया जाए तो भी वे समाप्त न होंगे।

इसी प्रकार विज्ञान की कृपा से पहले की अपेक्षा अधिक धन-संपत्ति उपार्जित की जा सकी है। संपन्नता के कई नए स्रोत हाथ लगे हैं। इन स्रोतों का सदुपयोग न किए जाने के कारण बढ़ा हुआ धन विलासिता और शोषण उत्पीड़न के नए आधार करने में लगा है। इस कला ने पशु-प्रवृत्तियों को भड़काकर उसे पतनोन्मुख तथा कुमार्गगामी बना दिया। शिक्षा ने मनुष्य का अहंकार बढ़ाया ,धूर्तता ने अपने हथियार पैने किए और जन साधारण को दिग्भ्रांत करने की कुशलता बढ़ाई। यह अनर्थ किसी एक क्षेत्र विशेष में नहीं हुआ, वरन इसकी व्यापकता सर्वग्राही बन गई है।

मनुष्य का शरीर ऐसी विशेषताओं और विभूतियों से संपन्न है कि यदि उसका सदुपयोग किया जाता तो इसी देह में देवत्व की झाँकी मिलती। उसकी मानसिक विशेषताएँ अद्‌भुत हैं और अद्‌भुत है उनकी सामर्थ्य। यदि उन्हें सृजनात्मक दिशा में लगाने और लोकमंगल के लिए उपयोग की बात सोची जाती तो इस धरती की गरिमा तथाकथित स्वर्ग से कहीं बहुत अधिक बढ़ी-चढ़ी हो सकती थी। लेकिन इस दुर्भाग्य को क्या कहा जाए कि सदुपयोग की बात सोचते और गले उतरते ही नहीं बनती है।

मनुष्य की प्रत्येक इंद्रिय अपने विषय में रसानुभूति करती है और उसके माध्यम से जीवनक्रम को सुव्यवस्थित रीति से चलाती है। जीवन-निर्वाह के लिए यह आवश्यक है और प्रकृति ने प्रत्येक मनुष्य को इसके लिए पर्याप्त संपदा दी है, जिसे जीवनी शक्ति के रूप में देखा जा सकता है। उसका एक थोड़ा सा अंश ही इंद्रियों के माध्यम से खरच करना पर्याप्त है और उसी से काम चल जाता है। लेकिन लोग जीवनी-शक्ति का इंद्रिय लिप्सा के लिए इस बुरी तरह दुरुपयोग या अपव्यय

करते हैं कि सारी जीवनशक्ति ही इन प्रयोजनों में खरच हो जाती है और उच्च आध्यात्मिक प्रयोजनों के लिए कुछ भी नहीं बचता। इस विषय पर 'लीग फॉर स्प्रीचुअल डिस्कवरी' की इटली शाखा ने अंत:चेतना का विस्तार और उसकी अभिव्यक्ति पर एक शोधग्रंथ प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ में अनेकों तर्क, प्रमाण और उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बताया गया है कि अर्थपरायण स्वार्थपरता और इंद्रिय-प्रधान भोग-लिप्सा यदि प्रबल रहेगी तो मनुष्य अपनी अंतरंग सामर्थ्य से वंचित हो जाएगा। इन दोनों प्रवृत्तियों में निम्न स्तरीय आकर्षण इतना अधिक है कि वह मनुष्य को ऊँचा सोचने और ऊँचे आदर्शों को अपनाने का अवसर ही नहीं देती है।

वस्तुत: यदि इंद्रियों के माध्यम से अंत:चेतना का उपयोग तुच्छ प्रयोजन में करके उसकी महान शक्ति को बरबाद होते रहने से रोका जा सके और उन्हें उपयुक्त दिशा में नियोजित किया जाए तो इस महान शक्ति के सदुपयोग द्वारा असाधारण स्थिति का मनुष्य भी अति उच्च स्थिति में पहुँच सकता है। प्रश्न उठता है कि बरबादी को रोकने और उपलब्धियों को उच्च प्रयोजन में लगाने की बात मनुष्य को क्यों नहीं सूझती ? इसका एक ही उत्तर है कि मनुष्य ने धर्म, नीति और सदाचार के आदर्शों को महत्त्व देते हुए समाज का अति महत्त्वपूर्ण ढाँचा तैयार करने का लक्ष्य तो घोषित किया पर उस ढाँचे में भी संकीर्ण स्वार्थपरता और पक्षपात की इतनी मात्रा भर दी गई कि वे उपयोगी आधार एक प्रकार से अनुपयोगी बनते जा रहे हैं जो न्याय के स्थान पर अन्याय का ही अभिवर्द्धन करते हैं। मध्यकालीन सामंतवादी परंपराएँ इसी प्रकार की रही हैं। उस समय एक वर्ग दूसरे वर्ग को लूटने-मिटाने में अपनी बहादुरी मानता रहा है और इसी आधार पर समृद्धि ही नहीं वरन प्रशंसा भी प्राप्त करता रहा है। मध्यकाल का इतिहास ऐसी ही मारकाट से भरा पड़ा है और उसके पृष्ठों में आक्रमणकारियों को योद्धा के रूप में चित्रित किया जाता रहा है।

वीरता का यह कैसा मजाक है ? इस तरह धर्म नीति का वर्ग विशेष के लिए प्रचलन-प्रतिपादन करने पर भी उसकी महत्ता कोई

बढ़ी नहीं वरन उल्टे घटी ही है। पिछले दिनों दोमुँही नैतिकता का मापदंड भी चलता रहा है। अपनों के लिए और मापदंड तथा दूसरों के लिए और तरह के मापदंड। इस तरह के तथाकथित धार्मिक और नैतिक प्रतिपादनों की इतनी भरमार है कि उसके उपदेशों में नीति, धर्म, उदारता, सहायता आदि का समावेश तो है, पर वह अपनों तक के लिए ही सीमित रखा जा सकता है। परायों से इस तरह के सद्व्यवहार की उतनी आवश्यकता नहीं समझी गई है। अपनों की परिधि से बाहर– भले ही वह पड़ोसी हो, उसे लूटना, ठगना या सताया जाना उतना बुरा नहीं समझा जाता। कई धर्मों में तो उस धर्म को न मानने वालों को म्लेच्छ और काफिर कहकर उन्हें लूटने की, उनसे दुर्व्यवहार करने की खुली छूट है।

कुछ व्यक्ति वर्तमान समस्याओं के समाधान और प्रगति के लिए सद्ज्ञान को पर्याप्त मानते हैं। उनकी मान्यता है कि शिक्षा ही मनुष्य को सभ्य बना सकती है। कुछ इस विचारधारा के भी हैं कि धर्म मान्यताएँ ही मनुष्य को उदात्त बना सकती हैं। लेकिन यह सभी मान्यताएँ एकांगी और अपूर्ण हैं। आवश्यकता इस बात की है कि समस्या की तह में पहुँचा जाए और तथ्यों पर विचार करते हुए यह देखा जाए कि जो ज्ञान, प्रचलन एवं साधन उपलब्ध हैं उनका सदुपयोग हो रहा है अथवा नहीं।

जब समाज का इतना विकास नहीं हुआ था, आज जैसे साधन उपलब्ध नहीं हुए थे और मनुष्य अविकसित स्थिति में पड़ा था, तब कोई मनुष्य अपनी शक्ति से सीमित बुराई और सीमित हानि ही पहुँचा सकता था। अब वह स्थिति नहीं है। अब वह सुविधा-साधन उपलब्ध हैं, जिनकी सहायता से यदि वह चाहे तो असीम बुराई कर सकता है। यही बात अच्छाई के संबंध में भी है। साधनहीन अविकसित स्थिति में हमारे पूर्वज अपनी श्रेष्ठता को भी सीमित मात्रा में सीमित क्षेत्र में ही फैला सकते थे। इसी प्रकार पुरातन युग में जब दुनियाँ बिखरी हुई थी और मनुष्य के साधन सीमित थे, तब उस समय के अवांछनीय कार्य भी सीमित हानि पहुँचाते थे और अनुचित दृष्टिकोण के कारण क्षति भी

सीमित होती थी, लेकिन अब विज्ञान ने दुनियाँ को बहुत छोटा बना दिया है। संचार और यातायात के साधनों ने दूरी समाप्त कर दी है और दुनियाँ के देश एक ही नगर के गली-मुहल्लों जैसे बन गए हैं।

ऐसी स्थिति में व्यक्ति या समुदाय अपनी उपलब्धियों का दुरुपयोग करना चाहे तो वह बहुत अधिक क्षति कर सकता है और पूरी मनुष्य जाति को हानि पहुँचा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति चाहे तो श्रेष्ठता को सारे संसार में बढ़ा और फैला सकता है। विज्ञान ने मनुष्य को इतने साधन और इतनी सुविधाएँ उपलब्ध करा दी हैं कि अब जाति, धर्म, रंग और संप्रदाय के आधार पर वर्गीय स्वार्थों को अलग रखकर सोचना संभव नहीं है, उसके लिए व्यापक दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। दुनिया इतनी छोटी हो गई है और विज्ञान ने इतनी प्रगति कर ली है कि अब विश्व को एक इकाई मानकर ही चलना होगा। यह परिसीमन या विकास मनुष्य के अपने बुद्धि-कौशल का ही परिणाम कहा जाना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि अपनी उपलब्धियों का सदुपयोग विश्व को एक इकाई मानकर किया जाए।

यह सारी धरती एक देश है। संपूर्ण मनुष्य जाति का वंश एक है। प्रकृतिप्रदत्त साधनों पर सभी का समान अधिकार है। सभी एक परमात्मा ही संतान हैं। वसुधैव कुटुंबकम् के इस श्रेय आदर्श के कारण ही कभी समस्त मानव जाति एकता के सूत्र में आबद्ध थी। न सुविधाओं की कमी थी न साधनों की, न संकट सताते थे और न विग्रह। किंतु जब टूटने-बाँटने-विलग होने की प्रवृत्ति पनपी तो गँवाने-खोने और अभावग्रस्त रहने की परिस्थितियाँ ही दु:खद दुर्भाग्य के रूप में सामने आती चली गईं। जातिवाद, वंशवाद, राष्ट्रवाद, संप्रदायवाद, भाषावाद जैसी संकीर्ण भावना नहीं थी। फलत: एकत्व के सूत्र में बँधे हुए सभी एकता, समता, शुचिता, स्नेह, सहयोग, आत्मीयता से भरी-पूरी स्वर्गोपम परिस्थितियों में निवास करते थे। सर्वत्र सुख-शांति का वातावरण ही दृष्टिगोचर होता था।

इस धरा पर प्राचीनकाल जैसी स्वर्गीय परिस्थितियों के नव-निर्माण के लिए हमें अनेकता से एकता की ओर बढ़ना होगा। इस

सर्वोच्च लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रस्तुत मार्ग के अनेकानेक अवरोधों को दूर करना होगा। विश्व मानव को विशृंखलित अलग विलग करने में अनेक तत्त्वों की प्रधान भूमिका रही है। मोटेतौर पर उन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है–(१) राष्ट्रवाद की सांप्रदायिक भावना (२) धार्मिक मतभेद (३) भाषाई भिन्नता। परस्पर एक समुदाय की दूसरे के प्रति–एक देश की दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष, अलगाव पैदा करने में इन तीन की ही प्रमुख भूमिका रही है। इनके रहते विश्वशांति के लिए किए जाने वाले प्रयासों की सफलता सदा संदिग्ध बनी रहेगी। शांति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए यू० एन० ओ०, एमनेस्टी इंटरनेशनल, इंटरनेशनल पीस फाउंडेशन जैसी कितनी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ पिछले कई वर्षों से प्रयत्नशील हैं किंतु इनकी असफलताएँ किसी से छिपी नहीं। युद्धों–संघर्षों को रोकने के लिए निःशस्त्रीकरण जैसे कितने ही समझौते हुए किंतु उनमें से कोई भी अपने लक्ष्य को पूरा करने में सफल न हो सके। कागजों पर शांति एवं सुरक्षा की योजनाएँ बनती रहीं–प्रस्ताव पारित होते रहे–समझौते हुए किंतु संघर्ष एवं तनाव की स्थिति में वे कारगर सिद्ध न हो सके। जिन देशों ने उन समझौतों को मानने के लिए अपने हस्ताक्षर किए वे स्वार्थों का टकराव होते ही भूल गए कि नैतिक दृष्टि से समझौते को मानने की उनकी जिम्मेदारी भी होती है। पिछला इतिहास इसी बात का साक्षी है कि गत दो दशकों में तो संघर्षों एवं युद्धों की संख्या सर्वाधिक बढ़ी है। कहा जा चुका है कि वर्तमान तनाव भरी परिस्थितियों के निर्माण में उपर्युक्त तीन अवरोध ही प्रमुख कारण हैं। इनके रहते शांति स्थापना के लिए किए जा रहे प्रयास वृक्ष की जड़ के स्थान पर पत्तों को सींचने से फूल, फल प्राप्ति की उपहासास्पद स्थापना करने जैसे ही सिद्ध होंगे।

हम अमुक देश के निवासी हैं। हमारे दायित्व देश की सीमा तक सीमित हैं। नीति, अनीति जैसे भी बने देश के हित के लिए किया जाना चाहिए। देशों की इस सांप्रदायिक नीति के कारण ही परस्पर विग्रह तनाव बढ़ता है। स्वस्थ राष्ट्रीय भावना देश के विकास के लिए आवश्यक है और उपयोगी भी। जिस देश में जन्मे–पले उससे जुड़े हुए सामाजिक

एवं नैतिक दायित्वों का निर्वाह किया जाना चाहिए। देश के उत्थान के लिए कुछ सामाजिक मूल्यों एवं नियमों का निर्धारण होना भी महत्त्वपूर्ण है। किंतु देशभक्ति जब सांप्रदायिक रूप ले लेती है तो विश्व शांति के ऊपर आघात पहुँचता है। राष्ट्रीय सांप्रदायिकता को भड़काने में समय-समय पर अनेकों प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रयोग भी राजनेताओं एवं सत्ताधारियों द्वारा किए जाते रहे हैं। अठारहवीं शताब्दी में ब्रिटेनवासियों का नारा था कि वे कभी दास नहीं होंगे, उनका जन्म शासन करने के लिए हुआ है000। ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार इस नारे का ही प्रतिफल था। सदियों बाद भी यह श्रेष्ठता का दंभ आज भी अँगरेजों के मन में बना हुआ है। फ्रांसीसियों ने भी अपने देशवासियों को इसी नीति द्वारा भड़काया था। उनकी घोषणा थी कि अशुद्ध रक्त से ही हमारी क्यारियों की सिंचाई हो। यह अशुद्ध रक्त उनकी दृष्टि में आस्ट्रिया-वासियों का था। इसके विपरीत नेलसन ने भी अपने सैनिकों से कहा था कि फ्रांसीसी शैतान हैं। उसका आदेश था कि फ्रांसीसियों को समाप्त करना ही धर्म है। इसका ही प्रतिफल था कि युद्ध के बारह वर्षों बाद तक भी उसके सैनिकों में फ्रांसीसियों के विरुद्ध आक्रोश बना रहा। जर्मनी में हिटलर ने भी इसी प्रकार का प्रचार किया था। उसका कहना था, ''जर्मनवासियों का जन्म विश्व पर शासन करने के लिए हुआ है।'' कुछ ही वर्षों में उसने समस्त जर्मनी को नाजीवाद के रंग में रँग दिया। स्वयं तो वह नष्ट हुआ ही, राष्ट्र को भी युद्धोन्माद में ध्वस्त कर गया। आज भी यह प्रयोग जारी है। हाल ही में दो मुसलिम देशों में छिड़े युद्धों को रोकने के लिए विभिन्न देशों द्वारा प्रयास किए गए हैं। एक देश के मूर्द्धन्य धर्मगुरु जिनके हाथों में शासन की बागडोर है, ने कहा कि इस्लाम में दुश्मन से मैत्री करने का कोई प्रावधान नहीं है। सांप्रदायिकता को भड़काने के लिए जब धर्म, मजहब को भी दाँव पर लगाने की बात सोची जा रही है तो शांति स्थापना कर सकना कैसे संभव है?

भौगोलिक दृष्टि से भी सभी देश बँटे हुए हैं। भूभाग का क्षेत्र जितना जिसने कब्जा कर लिया, वह उस देश की संपत्ति है। किस देश को कितनी जमीन की आवश्यकता है, इस आधार पर तो कभी विभाजन

हुआ ही नहीं। फलत: आबादी की दृष्टि से कम होते हुए भी अपने सैन्य बल से एक देश जरूरत से अधिक भूमि पर आधिपत्य बनाए हुए है। क्षेत्र विस्तार के लिए ही समय-समय पर युद्ध भड़कते हैं। देश की सीमाओं पर आएदिन घुसपैठ की घटनाएँ होती हैं और छिटपुट गोलीबारी होती है, कितने ही व्यक्तियों की जानें जाती हैं। भूभाग का विभाजन न होता, उसे समस्त मानव जाति की संपत्ति माना गया होता तो यह स्थिति न आने पाती। प्रकृतिप्रदत्त साधनों, तेल संपदा, खनिज संपदा की किसी देश में बहुलता है और किसी में न्यूनता। फलस्वरूप एक देश अत्यधिक संपन्न है और दूसरा साधनों की कमी के कारण पिछड़ी स्थिति में पड़ा है-प्रगति नहीं कर पा रहा है। सब पर सबका आधिपत्य रहा होता तो यह विषमता की खाई नहीं दिखाई पड़ती।

देश की सुरक्षा के लिए प्रति वर्ष प्रत्येक राष्ट्र को अपनी आय का एक बड़ा भाग खरच करना पड़ता है। सभी देशों का यह खरच जोड़ने पर यह राशि लगभग एक खरब बहत्तर अरब अठावन करोड़ बीस लाख डालर आती है। यह तो वे आँकड़े हैं जो व्यक्त हैं। अव्यक्त राशि इससे भी अधिक है। इतनी बड़ी धनराशि मात्र सुरक्षा के लिए खरच हो रही है। जब तक भौगोलिक रूप से सभी राष्ट्र बँटे रहेंगे, तब तक असुरक्षा बनी रहेगी।

इस समस्या का समाधान विश्व राष्ट्र के सपने को साकार करने से ही संभव है। जिस प्रकार एक देश के अंतर्गत विभिन्न राज्य रहते हैं। सबके परस्पर सहयोग से देश की शासन व्यवस्था सुचारुपूर्वक चलती है। सभी प्रांतों का सम्मिलित प्रयास एवं लक्ष्य देश की प्रगति का होता है। शासन की बागडोर एक के हाथों में होते हुए भी हर प्रांत के लिए गवर्नर नियुक्त होते हैं जो राज्य की व्यवस्था सँभालते हैं। प्रांतों के बीच कभी आपसी टकराव अथवा संघर्ष की स्थिति नहीं आने पाती। ऐसे ही संपूर्ण विश्व के लिए एक शासन व्यवस्था बनानी होगी। समस्त विश्व एक राष्ट्र होगा, प्रांतों की भाँति विभिन्न देश उसके हिस्से होंगे जो भौगोलिक दृष्टि से अलग-अलग दीखते हुए भी एक शासन तंत्र से जुड़े होंगे। न्याय, व्यवस्था एवं टैक्स की प्रणालियाँ एक जैसी

होंगी। एक प्रांत से दूसरे प्रांत में आवागमन की जिस प्रकार सुविधा रहती है, उसी तरह एक देश में जाने की छूट रहेगी। जो जहाँ बसना चाहेगा बस सकेगा। वस्तुओं का प्रत्यावर्तन एक देश से दूसरे देश में प्रतिबंधित नहीं होगा। आजकल प्रगति एवं संपन्नता का एकांगी लाभ एक देश उठाता है, फलतः देशों के बीच अमीरी-गरीबी की खाई और भी अधिक चौड़ी होती जा रही है। जब समस्त विश्व एक राष्ट्र होगा तो प्रगति के साधनों पर संपन्नता के उपयोग का एकांगी अधिकार किसी भी देश को न होगा।

विश्व सरकार एवं विश्व न्यायालय, शासन व्यवस्था सँभालेंगे। विश्व सरकार के नियंत्रण में विश्व सेना यदा-कदा उठने वाले संघर्षों पर नियंत्रण रखेगी। प्रांतीय पुलिस जिस तरह क्षेत्रीय अपराधों पर अंकुश रखती है, उसी तरह कार्य करती रहेगी। ऐसी स्थिति में युद्ध की परिस्थितियाँ नहीं आने पाएँगी। राष्ट्रवाद की स्वार्थपरता ही युद्धों को जन्म देती है। जब समस्त विश्व ही अपना देश है, एक परिवार है तो कौन, किससे युद्ध करेगा? विश्व राष्ट्र की यह कल्पना और उसके साकार होने से जुड़ी उपलब्धियों पर विचार करने मात्र से मन पुलकित हो उठता है।

विश्व एकता के मार्ग में दूसरा अवरोध तत्त्व आड़े आता है धार्मिक एवं सांस्कृतिक मतभेदों का। प्राचीनकाल में एक ही सनातन और सार्वभौम धर्म था जो मत-मतांतरों सांप्रदायिक भेद-भावों से रहित होकर परस्पर एकता, समता, सद्भावना और आत्मीयता जैसे उदात्त भावों का प्रतिपादन करता था। नैतिक एवं सामाजिक दायित्वों का भलीभाँति परिपालन ही धर्म का प्रमुख लक्ष्य था। प्रचलित विभिन्न मत-मतांतर तो कलेवर भर थे जो देशकाल की परिस्थितियों के अनुरूप बने थे। किंतु अपने सांस्कृतिक परिवेश में रहते हुए भी वे इसी लक्ष्य की पूर्ति में संलग्न रहते थे। कालांतर में विकृतियाँ आईं और धर्म का स्थान संप्रदाय ने लिया। महान लक्ष्य गौण हो गया और कर्मकांड ही प्रधान रह गए। फलस्वरूप धार्मिक क्रियाकृत्यों को ही सब कुछ माना जाने लगा। अमुक धर्म श्रेष्ठ है अमुक छोटा का अज्ञान एवं

हठोन्माद पनपा। जिसने परस्पर द्वेष, घृणा और मतभेदों को जन्म दिया। जो कभी अलग-अलग संस्कृति के दीखते हुए भी नवनिर्माण में, मनुष्य के परिष्कार एवं विकास के महान लक्ष्य को पूरा करने में लगे रहते थे अपना लक्ष्य ही भूल बैठे। परिणाम सामने है धार्मिक संप्रदायवाद का विकृत स्वरूप।

विश्व राष्ट्र की भाँति विश्व धर्म का भी निर्धारण करना होगा। प्रत्येक धर्म के सनातन सिद्धांत एक जैसे हैं। अंतर मात्र उनके स्वरूप में है। स्वरूप की भिन्नता को न तो पूर्णतया समाप्त किया जा सकता है और न ही यह कहना श्रेयस्कर है कि उनके ऊपर उस देश की परिस्थितियों की भी छाप है जो विकास में सहायक हैं। करना मात्र यह होगा कि सभी धर्मों मजहबों को एक आदर्श, एक सिद्धांत के नीचे लाना होगा जो देश, काल, जाति, वर्ण, रंग, वंश से परे और मनुष्य को उदार, उदात्त सद्भाव संपन्न बनाने में सहायक हैं।

अमुक संप्रदाय को मानने से ईश्वर प्रसन्न होता है और अमुक मत को मानने से अप्रसन्न, इस मान्यता में कोई तथ्य नहीं है, साथ ही अविवेकपूर्ण भी है। ईश्वर की प्रसन्नता-अप्रसन्नता सत्कर्मों अथवा कुकर्मों पर अवलंबित है। न्याय नीति, सत्कर्म सद्भाव को अपनाकर ही उसका अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है। बिना गुण, कर्म, स्वभाव देखे किसी संप्रदाय विशेष को अपनाने मात्र से ईश्वर अपनी कृपा बरसाने लगे तो उसकी न्यायशीलता, दूरदर्शिता कहाँ रही? वस्तुतः संप्रदाय तो मनीषियों ने देश काल की परिस्थियिों के अनुसार बनाए हैं। समयानुसार ही उनमें हेर-फेर भी होता है किंतु शाश्वत धर्म तो मानवी कर्त्तव्य है जिनका परिपालन हर कीमत पर होना चाहिए। इसी तथ्य को सभी धर्मावलंबियों को न केवल हृदयंगम करना होगा वरन परिपालन के लिए सहमत करना होगा। निस्संदेह ऐसे सार्वभौम धर्म की आचार संहिता सर्वश्रेष्ठ आदर्शों एवं सिद्धांतों का एक समन्वयात्मक स्वरूप होगा।

समस्त विश्व की एकता में तीसरी बाधा आती है-भाषा की भिन्नता की। यों तो संयुक्त राष्ट्र संघ ने पांच भाषाओं को मान्यता दी

है–अँगरेजी, फ्रेंच, स्पेनिश, चीनी और रूसी। भारतीय संविधान ने १५ भाषाओं को स्वीकृति दी है। अकेले भारत में कुल १८१ भाषाएँ तथा ५४४ प्रकार की बोलियाँ बोली जाती हैं। विश्व की अन्य प्रमुख भाषाएँ हैं–जर्मन, स्वीडिश, डेनिश, नार्स, आइसलेण्डिक, डरालियना, पुर्तगाली गैलिक, वेल्श, आयरिश बल्गेरियन, पोलिश, चेक, हिंदी, फिनिश, पर्शियन, उर्दू, हिब्रू, अरेबियन बर्बर, सोमालो टिबेटन, बवींज सियानिज, उजबेक, स्वाहिली, जापानी कोरियन, मन्चू, टर्कीश आदि। लगभग ३००० भाषाएँ पूरे विश्व में प्रचलित हैं।

भाषाई भिन्नता के कारण परस्पर विचार-विनिमय में कितनी अधिक कठिनाई होती है, यह सर्वविदित है। यह वैज्ञानिक युग है। नित नए आविष्कार हो रहे हैं। ज्ञान की विविध धाराओं का प्रादुर्भाव होता है। किंतु एक की जानकारी दूसरे भाषाई क्षेत्र तक पहुँचने में वर्षों लग जाते हैं। फलस्वरूप आविष्कारों एवं उपलब्धियों का ठीक समय पर लाभ नहीं मिल पाता। समय ही नहीं अर्थ की दृष्टि से भी ज्ञान के प्रसारण में भारी कठिनाई उठानी पड़ती है। भाषा की भिन्नता के कारण अलग प्रेस की व्यवस्था बनानी पड़ती है। टाईप, टाईपराईटर, मशीनें सभी भाषाओं के लिए अलग-अलग प्रकार की बनानी होती हैं। उनकी सीमित बिक्री होने के कारण वे महँगी भी पड़ती हैं। यदि एक लिपि को विश्व मान्यता प्राप्त हो जाए तो प्रेस तंत्र की मशीनें सस्ती पड़ेंगी और पढ़ने-लिखने में भी सुविधा होगी।

भावनात्मक संबंध प्रगाढ़ बनाने में भी भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। एक भाषा के जानकार जब सुदूर क्षेत्रों में मिलते हैं तो शीघ्र ही घुल-मिल जाते हैं। भाषाओं की अनेकता एवं भिन्नता के कारण परस्पर दो भिन्न भाषाओं के जानकारों के बीच आत्मीयता के सूत्र सघन करने में भी कठिनाई होती है। परायापन जैसा लगता है। विश्व मानव के संबंधों को प्रगाढ़ बनाने में भी भाषा की एकरूपता विशेष रूप से सहायक सिद्ध होगी। ज्ञान की विविध धाराओं के प्रकाशन, अध्ययन, अध्यापन एवं शिक्षण एक भाषा के माध्यम से सुलभ हो जाएँ तो समस्त मानव जाति की प्रगति में भारी योगदान मिलेगा। विश्व के लिए ऐसी

एक भाषा कौन सी हो सकती है जो सभी के लिए उपयोगी हो। उसके लिए गहन मंथन अन्वेषण करने की आवश्यकता होगी। विचारशील वर्ग को, भाषाओं के विशेषज्ञों को इस निर्धारण के लिए प्रयास करने होंगे।

संसार के इतिहास में इससे पहले कभी शांति के लिए समष्टि मानव की इतनी तीव्र इच्छा और युद्ध के विरुद्ध ऐसी विस्तृत घृणा नहीं हुई है। यह एक संक्रांति काल है जिसमें मनुष्य जाति तीव्रतम परिवर्तन से होकर गुजर रही है। इतिहास ने वर्तमान पीढ़ी को एक ऐसे युग में लाकर छोड़ा है, जिसमें यह आवश्यक है कि विचारशील वर्ग इस परिवर्तन को एक ऐसी दिशा में ले जाए, जहाँ कि वह श्रेष्ठतम मानवी आदर्शों एवं विश्वमानव के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके। यह तभी संभव है, जब संपूर्ण विश्व एवं संबंधित मानव जाति को ध्यान में रखकर सोचा एवं निर्धारण किया जाए। जिसमें सर्वप्रथम आवश्यक है उपर्युक्त तीनों अवरोधों को दूर करना।

विश्वराष्ट्र, विश्व धर्म, विश्व संस्कृति, विश्व भाषा के सपने को साकार करने से ही प्रस्तुत अनेकानेक समस्याओं का समाधान संभव है। इन तीनों के समन्वय से विश्वमानव की एकता की स्थापना हो सकती है, और '**वसुधैव कुटुंबकम्**' का आदर्श केवल कल्पना न रहकर मूर्तिमान हो सकता है। परस्पर आपसी मतभेदों, विग्रहों, संघर्षों एवं युद्धों से बचाव इस अभिनव निर्धारण द्वारा ही संभव होगा। भेदभाव, पक्षपात और अलगाव की प्रवृत्तियों ने ही जनजीवन को अगणित कठिनाइयों एवं उलझनों से भर दिया है और तृतीय विश्वयुद्ध की भयावह परिस्थितियाँ खड़ी कर दी हैं। एकता की दिशा में यदि मनुष्य जाति चल पड़े तो नरक जैसा दिखाई पड़ने वाला यही संसार सुख-शांति से भरा-पूरा स्वर्गोपम बन सकता है। नवनिर्माण की सार्वभौम भूमिका के लिए विश्व के हर विचारशील को आगे आना होगा।

❐

विश्वपरिवार का सपना सहकारी प्रयत्नों से साकार होगा

आर्थिक क्षेत्र में धीरे-धीरे यह मान्यता जड़ जमाती जा रही है कि संपदा उपार्जन में सहकारी सिद्धांत ही अंततः फलप्रद सिद्ध होंगे। ग्रामीण क्षेत्रों में विकास के लिए सरकारी बैंकों का तीव्र गति से विस्तार किया जा रहा है। बैंक प्रयत्नशील हैं कि सहकारी प्रयास से बचने वाले उत्पादनों में पूँजी जुटाने में-उपार्जन को उचित मूल्य पर बिकवाने में-बिक्री न होने तक सामान को जमा रखने में वे अपनी पूँजी से सहकारी संगठनों की यथासंभव सहायता करें। बड़े कारखाने भी एक प्रकार से श्रमिकों, कर्मचारियों के समन्वित प्रयत्नों के फलस्वरूप ही चल पाते हैं। मिल-मालिकों का प्रयत्न रहता है कि श्रमिक यह अनुभव करें कि उनके प्रयास से उत्पन्न हुई उपलब्धियों के उपभोग का लाभ उन्हें भी मिलता है। इसके लिए वे सुविधाएँ बढ़ाने से लेकर लाभांश को बोनस के रूप में बाँटने आदि का उपक्रम करते हैं।

साम्यवाद का प्रयोग और भी बड़ा है। उसमें समूचा उत्पादन शासन के स्वामित्व में जमा माना जाता है। किसे कितनी आवश्यकता है, इसका निर्धारण करके उसे उतने सुविधा-साधन प्रदान कर दिए जाते हैं। साम्यवाद की शासन पद्धति के गुण-दोषों पर विचार न करके मात्र प्रयोग के सिद्धांत की गहराई में प्रवेश किया जाए तो मालूम होगा कि साम्यवाद की सफलता का प्रमुख श्रेय सहकारिता के सिद्धांत को ही है।

विश्व के अनेक देशों ने सहकारिता के सिद्धांत को अपनाकर भौतिक क्षेत्र में असाधारण रूप से प्रगति की है। सहकारी संगठन कितने ही देशों में राष्ट्रीय उत्पादन का एक बड़ा भाग पूरा कर रहे हैं। इजराइल जैसे छोटे से देश में कुल कृषि उत्पादन में सहकारी समितियों

की भागीदारी ७५ प्रतिशत है। जापान में ये संगठन ३० प्रतिशत वस्तुओं के उत्पादन की आवश्यकता पूरी करते हैं। स्वीडन में भागीदारी का प्रतिशत २६ तथा टर्की एवं ताइवान में २० प्रतिशत है।

इजराइल में ६० प्रतिशत कृषि सहकारी संगठनों के हाथों में है। मिस्र में भूमि एवं कृषि सुधार योजना के अंतर्गत ४० प्रतिशत कृषि सहकारी तंत्रों के अधीन है। जर्मनी में कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी इस तरह की सहकारी समितियाँ क्रियाशील हैं। आवास एवं गृह निर्माण संबंधी ११ प्रतिशत मामले सहकारी समितियाँ सँभालती हैं। ३५ प्रतिशत में सरकार का मिला-जुला योगदान है। नार्वे में २० प्रतिशत आवास व्यवस्था सहकारी संगठनों के जिम्मे है। उत्तरी यूरोप के औद्योगिक क्षेत्रों में सहकारी संगठनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

कृषि उद्योग तथा गृह-निर्माण के क्षेत्र में ही नहीं वरन शैक्षणिक प्रतिष्ठानों में भी सहकारी तंत्रों को सक्रिय रूप से गतिशील देखा जा सकता है। अमेरिका, कनाडा के अतिरिक्त अन्य यूरोपीय देशों में ऐसे अनेकों संगठन शिक्षा को लोकोपयोगी बनाने और विश्वबंधुत्व की भावना विकसित करने के अपने स्तर पर प्रयत्नशील हैं। सन् १९५५ के एक आँकड़े के अनुसार २६ देशों में ऐसी समितियाँ थीं। ऐसा अनुमान है कि ८० देशों में छात्र सहकारी समितियाँ क्रियाशील हैं। इनमें से कुछ प्रमुख देश हैं-डेनमार्क, स्वीडन, यूनाइटेड किंगडम, फ्रांस, पोलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, पाकिस्तान, जापान, श्रीलंका, मलेशिया, कोस्टारिका, रूस, बेल्जियम, यूगोस्लाविया, हंगरी तथा इजराइल। फ्रांस और पोलैंड में प्राथमिक एवं माध्यमिक शाखाओं को सुचारु रूप से चलाने में ये संगठन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

सहकारिता की उपयोगिता एवं उपादेयता को समझने तथा जन-जीवन में सहकारिता की प्रवृत्ति पैदा करने की दृष्टि से उपयोगी प्रशिक्षण के लिए कितने ही देशों में अनेकों कॉलेज सक्रिय हैं। 'को-ऑपरेटिव कॉलेज जापान', 'द नेशनल एग्रीकल्चरल को ऑपरेटिव

फैडरेशन कोरिया एवं पोलगोला', 'दि स्कूल आफ को-ऑपरेशन एवं एजूकेशन सेंटर-जाफना', 'श्रीलंका', 'इंडोनेशिया', 'जकार्ता स्कूल आफ एकोनॉमिक्स एंड बिजनेस एडमिनिस्ट्रेशन', 'दि को-ऑपरेटिव ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट आफ थाईलैंड' आदि संस्थाओं में सहकारिता के प्रशिक्षण की सर्वांगीण व्यवस्था है।

जापान में घरेलू जीवन के विकास के लिए कितनी ही सहकारी समितियाँ क्रियाशील हैं। खाली समय के सदुपयोग द्वारा छोटे-छोटे कामों में प्रशिक्षण प्राप्त करके, किस तरह घर की आर्थिक व्यवस्था अधिक अच्छी बनाई जा सकती है, उसको ट्रेनिंग ये समितियाँ देती हैं। पाक विद्या, सिलाई, कढ़ाई, फलों एवं सब्जियों की सुरक्षा, आँगनबाड़ी, छतबाड़ी द्वारा शाक-सब्जी का उत्पादन, गुलदस्ते बनाना, फर्नीचर की टूट-फूट की मरम्मत, रेडियो, टेलीविजन आदि यंत्रों का संचालन एवं गड़बड़ी को दूर करना, तेल, साबुन बनाना आदि दैनंदिन जीवन में काम आने वाली जानकारियाँ गृहिणियों को इन संगठनों के माध्यम से मिलती हैं।

सहकारिता का सबसे अधिक सफल प्रयोग बेल्जियम तथा अलवर्टा में हुआ है। इन देशों में ऐसी को-ऑपरेटिव इकाइयों का गठन हुआ है, जिसके सदस्य न केवल वहाँ के नागरिक हैं बल्कि अनेकों संस्थान भी उसके सदस्य के रूप में पंजीकृत हैं। केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारें विभागीय प्रशासन भी गैर-सरकारी सहकारी संगठनों के सदस्य हैं।

अपने देश में सहकारी आंदोलन अभी शैशवावस्था में है। सरकार की देखरेख एवं नियंत्रण में है। जहाँ तक वित्तीय सहायता का प्रश्न है पश्चिमी यूरोपीय देशों में ऐसी समितियाँ सरकार से किसी भी प्रकार की सहायता नहीं लेतीं। आपसी सहकार द्वारा उन्होंने अपना स्वतंत्र अर्थतंत्र विकसित कर लिया है। गैर-सरकारी स्तर पर कितने ही सामूहिक प्रयोग किए जाने की अपने देश में गुंजाइश है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन शहरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्र में अधिक है। आबादी की

दृष्टि से ७५ प्रतिशत लोग अभी भी देहातों में रहते हैं। इनमें से ८० प्रतिशत की स्थिति अत्यंत ही गई-गुजरी है। पचास प्रतिशत को एक समय ही रोटी मिल पाती है। नौकरी-धंधे के लिए गाँव की युवा पीढ़ी नगरों की ओर भागती है। इसका कारण यह है कि शहरों में छोटे-मोटे काम रोजी-रोटी के लिए मिल जाते हैं। युवा श्रमशक्ति के नगरों की ओर पलायन से गाँवों की हालत और भी बदतर होती जा रही है। प्रतिभा, श्रमशक्ति तथा संपदा नगरों में केंद्रित होती जा रही है। फलस्वरूप नगरों की समृद्धि तो बढ़ रही है पर गाँवों की गरीबी यथावत है।

ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता के आधार पर कितने ही समृद्धि, सुख और शांति बढ़ाने वाले प्रयोग चल सकते हैं। देहातों की अर्थ-व्यवस्था का प्रमुख स्रोत कृषि है। पर जनसंख्या के हिसाब से कृषि योग्य भूमि की मात्रा कम है। हर व्यक्ति किसान हो ऐसा संभव नहीं। कृषि एवं लघु उद्योगों का समन्वित प्रयोग आसानी से चल सकता है। कम्युनिस्ट देशों में सरकारी फार्मों पर मिल-जुलकर सभी खेती करते हैं। छोटी-छोटी जोते नहीं हैं। उन देशों में कृषि पर भी नियंत्रण सरकार का है, पर अपने यहाँ भी सहकारिता के आधार पर सामूहिक खेती का प्रयोग चल सकता है। छोटी जोतों के कारण समय, श्रम और धन तीनों की बरबादी होती है। बड़ी जोतों की अपेक्षाकृत उनमें उत्पादन भी कम होता है। सामूहिक खेती करने की परंपरा चल पड़े तो इससे लाभ ही लाभ है। बरबाद होने वाले श्रम, समय और धन की बचत होगी। अपनी जोत के हिसाब से हर व्यक्ति उत्पादन में भागीदार भी बन सकता है।

कृषि के साथ लघु उद्योगों को भी जोड़ दिया जाए तो गाँवों की बेकारी, बेरोजगारी का सर्वसुलभ हल निकल सकता है। मवेशियों का गोबर सस्ता और आसानी से देहातों में उपलब्ध होने वाला ऊर्जा स्रोत है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संपन्न हुई ऊर्जा-संकट की गोष्ठियों में मूर्द्धन्य

अर्थशास्त्रियों ने यह स्वीकार किया कि पशुओं के मल से बड़ी मात्रा में ऊर्जा की आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। पशुधन भारत में सर्वाधिक है। लगभग २३ करोड़ गाय, बैल, भैंस आदि देश में हैं। उनके मल से गोबर-गैस प्लांट की स्थापना और उत्पन्न होने वाली ऊर्जा से घरेलू कामों के अतिरिक्त भी छोटे-छोटे उद्योगों को चलाने के लिए अभीष्ट परिमाण में ऊर्जा मिलती रह सकती है। कपड़ा, तेल, साबुन, खिलौने, मोमबत्ती, अगरबत्ती जैसी कितनी दैनंदिन जीवन में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं का निर्माण कुटीर उद्योगों में हो सकता है। वस्तुओं, सामानों, टूट-फूट की मरम्मत, आँगनबाड़ी, छतबाड़ी लगाने तथा छोटे उद्योगों को चलाने के लिए तकनीकी प्रशिक्षण की व्यवस्था भी देहातों में हो सकती है।

आर्थिक नहीं अन्य दृष्टियों से भी सहकारी जीवन का प्रयोग विशेष लाभकारी सिद्ध होगा। परस्पर मिल-जुलकर रहने, साथ-साथ काम करने से आपसी स्नेह-सौहार्द्र विकसित होगा। सामाजिक जीवन में आधे से अधिक झगड़े तो मनुष्य की एकाकी जीवन जीने की प्रवृत्ति के कारण पैदा होते हैं। जमीन जायदाद संबंधी कितने ही मुकदमे न्यायालय में पहुँचते रहते हैं, जिससे आपसी मनमुटाव बढ़ने के साथ-साथ धन एवं समय की अत्यधिक हानि होती है। सहकारी जीवनक्रम में मतभेदों के पैदा होने की गुंजाइश कम रहेगी।

'ईच फॉर आल एंड ऑल फॉर ईच'-यह सिद्धांत है सामूहिक जीवन का अर्थात प्रत्येक दूसरों के सुख-दु:ख का ध्यान रखे, उनमें हिस्सा बटाए और आवश्यकता पड़ने पर सहकार करे। सहकारी जीवन का प्रयोग सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन होकर 'वसुधैव कुटुंबकम्' का सपना चरितार्थ कर सकता है।

जेम्स पीटर बारबेसे नामक एक विद्वान अपनी पुस्तक 'ह्वाट इज को-ऑपरेशन' में लिखते हैं-"यदि सहकारी समितियाँ जीवन के हर क्षेत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें तो शासनतंत्र के ऊपर पड़ने

वाला अनावश्यक दबाव कम होगा। इस तंत्र में काम करने वाले अधिक कुशलता एवं जिम्मेदारी से प्रशासन एवं सुरक्षा के अन्य आवश्यक काम पूरा करते रह सकते हैं।'' अपनी एक अन्य पुस्तक 'को-ऑपरेटिव डैमोक्रेसी' में अपने मंतव्य को उन्होंने और भी अच्छी तरह स्पष्ट किया है। उनका मत है कि परिपक्व सहकारी समितियाँ सरकार की विभिन्न शाखाओं का स्थान ग्रहण कर सकती हैं। उन्होंने सरकार एवं सहकारी समितियों के कार्यक्षेत्र का वर्गीकरण किया है कि सरकार को शासन एवं कानून व्यवस्था से संबंधित होना चाहिए जबकि सहकारी संगठनों को वस्तु व्यवस्था से।

विश्व के मूर्द्धन्य अर्थशास्त्रियों एवं विचारकों का निष्कर्ष है कि समस्त मानव जाति की समृद्धि, सुख एवं शांति को बढ़ाने में सहकारी जीवन का सद्भाव भरा प्रयोग विशेष रूप से सफल सिद्ध हो सकता है। अन्यान्य देशों ने इस तरह के प्रयोग आरंभ कर दिए हैं। अपने देश में सरकारी एवं गैर-सरकारी दोनों ही स्तरों पर सहकारिता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

❐

सामाजिक प्रणालियों का पुनर्निर्धारण आवश्यक

नवयुग के आगमन एवं स्वर्गीय परिस्थितियों के नवनिर्माण के लिए मनुष्य के अंतरंग को विकसित करने के साथ-साथ बाह्य तंत्रों का भी सुनियोजन-पुनर्निर्धारण करना होगा, जिनके ऊपर समाज की सुव्यवस्था और उसके सुसंचालन की जिम्मेदारी है। समाज की अनिवार्य संरचना में शासन तंत्र की सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ प्रणाली कौन सी हो सकती है, इस संबंध में विश्व के मूर्द्धन्य समाजशास्त्रियों, विचारकों की विचारधारा में मतभेद है। यह दायित्व समाज का नेतृत्व करने वाले विश्वमनीषियों के ऊपर आता है कि वे विश्व की वर्तमान परिस्थितियों में उपर्युक्त विषय पर अध्ययन-पर्यवेक्षण करें।

प्रचलित सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धांत सात हैं- (१) उपयोगितावाद (२) साम्यवाद (३) व्यक्तिवाद (४) अराजकतावाद (५) सामाजिक अनुबंधवाद (६) आदर्शवाद (७) गांधीवाद। इनके प्रणेता अपने-अपने वादों के समर्थन और प्रतिपादन में अनेकों प्रकार के तर्क, प्रमाण प्रस्तुत करते हैं और समाज के नवनिर्माण में उन्हें सर्वाधिक उपयोगी ठहराते हैं। उपयोगितावाद के जन्म देने वाले थे-जेरेमी बेंथम जिनकी गणना प्रमुख समाजशास्त्रियों में की जाती है। उनके अनुसार, "किसी भी कार्य या वस्तु की उपयोगिता इसी आधार पर अवलंबित है कि उसके द्वारा व्यक्ति को कितना सुख, आनंद अथवा लाभ होता है।" उनके अनुसार, "अधिक कठोर दंड की व्यवस्था अपराधी को सुधारती नहीं बिगाड़ती है। शिक्षा का स्वरूप ऐसा हो जो जीवनोपयोगी हो और उसमें व्यावहारिक समस्याओं का समाधान सन्निहित हो।" बेंथम की मान्यता है कि व्यापार पर राज्य की ओर से कम से कम प्रतिबंध होना चाहिए। देश की आर्थिक प्रगति की दृष्टि से स्वतंत्र व्यावसायिक नीति

कहीं अधिक श्रेयस्कर है। उपयोगितावाद के आलोचकों का कहना है कि इस पद्धति से पूँजीवाद को बढ़ावा मिलता है। राज्य का अंकुश होने से व्यवसायी वर्ग शोषण और दमन की नीति अपनाता है। एक वर्ग धनवान होता जाता है दूसरा अत्यंत गरीब। दंड की कठोरता न होने से अपराधों को और भी अधिक प्रोत्साहन मिलता है। बेंथम की सामाजिक नवनिर्माण के लिए की गई शासन की रूपरेखा स्वयं में अस्पष्ट है और उसमें सुनिश्चित आचार संहिता का अभाव है। कुछ विचारकों का मत है कि बेंथम के सिद्धांत व्यावहारिक कम हैं, सैद्धांतिक अधिक।

दूसरा प्रमुख वाद है–साम्यवाद। इसका उदय श्रमिकों, किसानों का पूँजीवाद के शोषण के विरुद्ध एक क्रांतिकारी आंदोलन-सिद्धांत के रूप में हुआ। जन्मदाता थे–**कार्ल मार्क्स**। साम्यवाद का प्रमुख लक्ष्य है एक वर्गविहीन समाज का नवनिर्माण करना। पूँजीवाद का अंत करके राष्ट्रीय संपत्ति या साधनों को व्यक्ति के हाथों से छीनकर समाज के अधिकार में रखना। समस्त आर्थिक असमानताओं को दूर करके नवीन वर्गहीन समाज व्यवस्था को जन्म देना। **साम्यवाद** के अनुसार राज्य का प्रमुख कार्य होगा–भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व का अंत, यातायात के साधनों का राष्ट्रीयकरण, कानून द्वारा मुद्रा का नियंत्रण, संपत्ति के अधिकारों का उन्मूलन, व्यापार तथा वाणिज्य का नियमन, हर प्रकार के एकाधिकार अथवा विशेषाधिकार का अंत करना। इन व्यवस्थाओं के सहारे एक वर्गहीन समाज के निर्माण के लिए राज्य को अपने समस्त कार्यों को नियोजित करना होगा। जिससे शारीरिक एवं बौद्धिक कार्य में कोई भेद न हो और प्रत्येक को उसकी क्षमता के अनुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार–साम्यवादी उद्देश्य की पूर्ति हो। मानवतावादी विचारकों का मत है कि सिद्धांतत: साम्यवाद के सिद्धांत ठीक हैं किंतु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिस पद्धति–हिंसक क्रांति का प्रोत्साहन देता है, उससे समाज में शांति और सुव्यवस्था

कभी कायम नहीं रह सकती। परस्पर घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, भय और अविश्वास की भावना बढ़ेगी। अंततः क्रांति के फलस्वरूप एक ऐसा वर्ग बचेगा जो हृदय की दृष्टि से कठोर और बर्बर होगा। आवश्यक नहीं कि जिन उद्देश्यों के लिए क्रांति हुई थी वह पूरी हो। इस पद्धति में तानाशाही शासन की पूरी-पूरी गुंजाइश है। विश्व की वर्तमान स्थिति को देखने से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिन देशों में कम्युनिज्म पनपा, फूला और फला है उन देशों की स्थिति आज सर्वाधिक गंभीर है। हिंसक क्रांति कब फूट पड़े इसका कोई ठिकाना नहीं है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर सीमा से अधिक शासकीय अंकुश होने से मनुष्य के स्वतंत्र और सर्वांगीण विकास की संभावना कम रहती है। अतएव साम्यवाद के सिद्धांत जितने अच्छे हैं, व्यावहारिक दृष्टि से उनके लागू करने में खतरे उतने ही अधिक हैं। कई साम्यवादी देशों के मूर्द्धन्य विचारक इन खतरों के प्रति सतर्क हो रहे हैं और परिवर्तन की बात सोचने लगे हैं। अर्थतंत्र एवं राजतंत्र को सुव्यवस्थित बनाने एवं समाज की बाह्य परिस्थितियों के नवनिर्माण हेतु साम्यवादी विचारधारा उपयोगी होते हुए भी मनुष्य के अंतरंग को विकसित करने के लिए कोई सुनिश्चित आधार नहीं देती। बाह्य परिस्थितियों का उपभोग, नियंत्रण एवं सुनियोजन करने वाला तो मनुष्य ही है और जब तक मनुष्य का अंतरंग पक्ष घटिया एवं हेय स्तर का बना रहेगा, सभ्य, शिष्ट और सुसंस्कृत समाज की कल्पना साकार नहीं हो सकती। मात्र बाह्य अंकुश एवं परिवर्तन की बात सोचने से काम नहीं चलेगा। यह प्रक्रिया एकांगी होगी। साम्यवाद में मनुष्य के अंतरंग को विकसित करने; श्रेष्ठ, उदार और उदात्त बनाने वाले तत्त्व नहीं हैं। जब तक मनुष्य का भीतरी पक्ष समुन्नत नहीं होता शोषण, संग्रह और दमन की प्रक्रिया चलती रहेगी।

तीसरा वाद है–व्यक्तिवाद। इस परिकल्पना के प्रणेता थे जान स्टुअर्ट मिल और स्पेंसर जैसे विचारक। इनकी मान्यता थी कि सत्ता सर्वोच्च है और उसे सर्वोपरि स्थिति में रहना चाहिए। जीवन, बुद्धि,

विचार, अनुभूति आदि मनुष्य की विशेषताएँ हैं। इन्हीं विशेषताओं के सहारे समाज एवं राष्ट्र का प्रत्येक कार्य होता है। इस कारण व्यक्ति को सभी क्षेत्रों में सर्वोच्च स्थान मिलना चाहिए। व्यक्तिवादी विचारधारा के समर्थकों का कहना है कि सबसे अच्छी सरकार वह है जो कम से कम शासन करती है। राज्य का एकमात्र कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि यह ऐसे वातावरण का निर्माण करे जिसमें व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक अपने व्यक्तित्व का, चरित्र का विचार और कार्यों का सुसंगठन एवं विकास कर सके।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता तभी उपयोगी एवं विकास में सहायक होती है जबकि उस पर कठोर आत्म अंकुश हो। आत्मनियंत्रण के अभाव में तो अनुशासनहीनता एवं उच्छृंखता को ही बढ़ावा मिलता है। अतएव जब मनुष्य का व्यक्तित्व इतना परिष्कृत एवं समुन्नत हो जाए कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता के दुरुपयोग की गुंजाइश न रहे, तब तक एक सीमा तक बाह्य शासकीय नियंत्रण बनाए रखना ही कहीं अधिक श्रेयस्कर है। गांधी जी जैसे विचारकों का मत है कि सभ्य-सुसंस्कृत मनुष्य ही स्वतंत्रता का सही उपयोग कर सकता है। अतएव व्यक्तिवाद के सिद्धांत-आदर्शवादी एवं श्रेष्ठ होते हुए भी व्यावहारिक नहीं हैं। अविकसित अशिष्ट समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सदुपयोग कम, दुरुपयोग अधिक होगा।

साम्यवाद का जिन परिस्थितियों में जन्म हुआ लगभग वही परिस्थितियाँ 'अराजकतावादी' परिकल्पना का कारण बनीं। इस कल्पना को जन्म देने वाले थे-मास्को के प्रिंस क्रोपाटकिन तथा माइकेल बाकुनिन। इस प्रणाली को एनार्किज्म के नाम से ही जाना जाता है। इन विचारकों के अनुसार क्रांति द्वारा पूँजीवाद का अंत होने से राज्य का भी अंत हो जाएगा। अराजकतावाद से अभिप्राय अराजकतावादी तत्त्वों से युक्त शासन प्रणाली से नहीं वरन राज्यविहीन समाज की स्थापना से है। प्रिंस क्रोपाटकिन के अनुसार, "अराजकतावाद जीवन तथा आचरण

का वह नियम अथवा सिद्धांत है जिनके अंतर्गत समाज शासनविहीन होगा। समाज का संचालन सामाजिक नियमों द्वारा होगा। मनुष्य को इतना सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाया जाए कि उस पर किसी प्रकार के नियंत्रण की आवश्यकता न पड़े और स्वयं अपने दायित्वों का भली-भाँति निर्वाह कर सके। संगठित छोटी-छोटी समितियाँ अपने-अपने विभागों का सुसंचालन करें। झगड़ों, विवादों का निपटारा पंचायत द्वारा किया जाना चाहिए।''

अराजकतावाद के अनुसार, ''प्रत्येक व्यवसाय, व्यापार तथा विविध कार्यों के संचालन के लिए उसमें लगे हुए व्यक्तियों की एक समिति अथवा संघ होगा जिनको 'कम्यून' कहा जाएगा। इस प्रकार शिक्षा, उत्पादन, उद्योग, व्यवसाय आदि विभिन्न कार्यों में लगे व्यक्ति अपने-अपने कम्यून स्थापित करेंगे। कम्यून ऐच्छिक तथा पूर्ण स्वतंत्र होंगे। प्रत्येक कम्यून स्वयं अपने पदाधिकारियों का चुनाव करेगा और अपनी नीति निर्धारण करेगा। सभी समुदाय परस्पर एक-दूसरे से गुँथे होंगे। एक ही विषय की जिलेभर के कम्यूनों को मिलाकर इस विषय की जिला समिति बनेगी, जिला समितियों से प्रांतीय समिति तथा प्रांतीय समितियाँ राष्ट्रीय समिति के लिए प्रतिनिधि भेजेगी। इस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर एक राज्य द्वारा किए जाने वाले सभी कार्यों को ये समितियाँ बाँट लेंगी।''

प्रचलित प्रणालियों में प्रजातंत्र-लोकतंत्र सर्वाधिक सफल रहा है। इसका प्रादुर्भाव सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत से हुआ है। समर्थकों में हाब्स, जान लॉक तथा रूसो जैसे विचारकों का नाम लिया जाता है। सामाजिक अनुबंध के सिद्धांतों के अनुसार मानवी विकास की आरंभिक अवस्था में लोग प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। राज्य नाम की कोई संस्था न थी। कालांतर में समस्याओं एवं असुविधाओं के बढ़ने से राज्य की आवश्यकता अनुभव की गई तथा राजा एवं प्रजा के बीच एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप राजा को शासन प्रबंध करने का

अधिकार मिला। राजा प्रजा की सम्मति एवं स्वीकृति से ही शासन करता है। यदि वह अनुबंधों को तोड़ता और अपने दायित्वों का निर्वाह नहीं करता तो प्रजा को अधिकार है कि उसे पदच्युत करके उसका शासक नियुक्त करे। रूसो की प्रजातांत्रिक प्रणाली का जन्म इसी परिकल्पना से हुआ।

समाजशास्त्रियों का मत है कि प्रजातंत्र की सफलता सजग एवं नीतिवान जनता के ऊपर निर्भर करती है। जब तक नागरिक अपने सामाजिक एवं नैतिक दायित्वों के प्रति सजग नहीं होंगे, वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दुरुपयोग ही करेंगे। शासनतंत्र का नेतृत्व, संचालन करने वाले व्यक्तियों का चुनाव जनमत के आधार पर होता है। जनता का जैसा स्तर होगा, उसी के अनुरूप व्यक्ति भी चुने जाएँगे। यदि उसका स्तर बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि से ऊँचा न हुआ तो चुने गए व्यक्ति भी सौंपे गए दायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकेंगे, और उलटे अव्यवस्था, अराजकता को जन्म देंगे। यदि प्रजातंत्र को सफल बनाना है तो जनता का स्तर ऊपर उठाने के लिए ठोस प्रयत्न करने होंगे और सत्ता दूरदर्शी व्यक्तियों के हाथों सौंपनी होगी। जो संकीर्ण स्वार्थपरता की सीमा से ऊपर उठ चुके हों, प्रामाणिक, चरित्रवान हों। आर्थिक दृष्टि से ही प्रजातंत्र की सफलता विकेंद्रीकरण की नीति पर निर्भर करती है। इसके लिए कल-कारखानों, उद्योगों को छोटे पैमाने पर नगरों एवं देहाती दोनों ही क्षेत्रों में बिखेरना होगा।

शासनतंत्र की वर्तमान प्रजातंत्र पद्धति में कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की कार्यविधियाँ इतनी लंबी एवं पेचीदा हैं कि उसमें जनसाधारण की छोटे-छोटे कामों के लिए देर तक प्रतीक्षा करनी होती है। ढेरों पैसा खरच करना होता है। इस जटिलता का लाभ अफसरों को मिलता है। इस संदर्भ में सरलता उत्पन्न करने के लिए नए सिरे से निर्धारण होने की आवश्यकता है। कर लगाने एवं वसूल करने की पद्धति भी ऐसी होनी चाहिए कि किसी को अनुचित लाभ उठाने का

अवसर न मिल सके। प्रजातंत्र का लाभ भी तभी मिल सकता है जबकि उसकी प्रक्रिया का नए सिरे से निर्धारण किया जाए और उन सभी छिद्रों को ढूँढ़-ढूँढ़कर बंद किया जाए जो अवांछनीयता, अनाचार एवं अनैतिकता को बढ़ावा देते हैं।

आदर्शवादी व्यवस्था के जन्मदाता थे प्रसिद्ध दार्शनिक एवं विचारक प्लेटो। उनका कहना था कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है। हम अपनी स्वाभाविक मनोवृत्तियों से प्रेरित होकर राज्य को मान्यता देते हैं। राज्य का सच्चा स्वरूप यही है कि वह एक नैतिक संस्था हो। हमारी आत्मोन्नति में सहयोग करना ही उसका कार्य है। राज्य मनुष्यता को पूर्णता की ओर ले जाने में बाह्य परिस्थितियों का निर्माण एवं सुनियोजन करता है। अतएव वह श्रद्धा का पात्र है। इस व्यवस्था के समर्थकों में हीगेल बोसांके, ग्रीन, कांट जैसे दार्शनिकों का नाम लिया जाता है।

प्लेटो की परिकल्पना दार्शनिक अधिक व्यावहारिक कम है। यह शासनतंत्र की सुनिश्चित प्रणाली एवं आचार संहिता का निर्धारण नहीं करती। अस्तु, आदर्शवाद के सिद्धांतों से शासन प्रणाली के निर्धारण में सुनिश्चित दिशाधारा नहीं मिलती।

महात्मा गांधी ने भी आदर्शवादी राज्य की परिकल्पना की थी। संक्षेप में उनकी कल्पना निम्न सिद्धांतों पर आधारित है–

"राज्य अपने को स्वयं साध्य मानकर जनता के सर्वांगीण विकास का एक साधन मात्र बनकर अपनी नीति का निर्धारण उसके अनुरूप करे तथा उसके पथप्रदर्शक सिद्धांत अहिंसा पर अवलंबित हों। वह अपनी शक्ति का प्रयोग कम से कम करे और जनता को अधिक से अधिक आत्मनिर्भर बनाने का सुअवसर दे। ग्रामीण जीवन की सर्वांगीण प्रगति एवं उन्नति को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाए। प्रत्येक गाँव अपने में एक पूर्ण गणराज्य हो। राज्य की शक्ति का ही नहीं राष्ट्रीय संपत्ति और उत्पादनों के साधनों का अधिक से अधिक विकेंद्रीकरण किया जाए, किंतु यह काम अहिंसात्मक ढंग से व्यक्तियों के वैचारिक एवं

भावनात्मक परिवर्तन द्वारा होना चाहिए। पीड़ित, पिछड़े, पददलित वर्ग के उद्धार के लिए विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए। स्त्री जाति का विकास देश की प्रगति का मूल आधार है। राज्य को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। समस्त नागरिकों को शिक्षा सुविधा उपलब्ध हो किंतु यह शिक्षा अक्षर ज्ञान तक सीमित न रहकर शरीर, मन और आत्मा तीनों के विकास के लिए होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को औसत दरजे के जीवनोपयोगी साधन जीवनयापन के लिए उपलब्ध होना आवश्यक है। बड़े उद्योगों की नीति की अपेक्षा छोटे गृह उद्योगों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।''

समाज के नवनिर्माण के लिए शासनतंत्र का स्वरूप क्या हो, इस संबंध में उपर्युक्त मत हैं विश्व के मूर्द्धन्य विचारकों एवं समाजशास्त्रियों के। वर्तमान सामाजिक परिवेश में समस्त विश्व के लिए कौन सी प्रणाली सर्वोत्तम और मनुष्य के विकास में सर्वाधिक सहायक सिद्ध होगी, इसके लिए गहन अध्ययन एवं पर्यवेक्षण की आवश्यकता होगी। यह जिम्मेदारी विश्व के मूर्द्धन्य मनीषियों के ऊपर है कि इस संबंध में पुनर्निर्धारण करें कि क्या उपर्युक्त प्रणालियों में से कोई ऐसी है जो समस्त विश्व के लिए सर्वोपयोगी हो अथवा इनसे प्रेरणा लेकर किसी ऐसी सार्वभौम व्यवस्था का निर्धारण करें जो समस्त मानव जाति के लिए उपयोगी एवं विकास में सहायक हो।

वायु, जल, प्रकाश, नदी, समुद्र, आकाश, धरती, सूर्य, चंद्र जैसे प्राकृतिक स्रोत प्राणी की सार्वजनिक संपदाएँ हैं। ये उपभोग के लिए सभी के लिए उपलब्ध हैं। इन पर किसी व्यक्ति विशेष अथवा राष्ट्र विशेष का व्यक्तिगत आधिपत्य नहीं है। समस्त मानव जाति के लिए विशेष रूप से उपलब्ध होने के कारण ही इन स्रोतों से सभी लाभ उठाते हैं। मनुष्य उपार्जित संपदा पर भी यही नियम लागू होता है। लगता भर है कि उत्पादन में किसी अमुक का श्रेय है, किंतु तथ्य यह है कि वह अगणित व्यक्तियों के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोग का ही प्रतिफल होता

है। अब तक की संपूर्ण मानव प्रगति का अध्ययन, पर्यवेक्षण करने पर पता चलता है कि यह पारस्परिक सहयोग एवं सहकार की सत्प्रवृत्ति द्वारा ही संभव हो सका है। संपत्ति उपार्जन में भी असंख्यों मृत एवं जीवितों का सहयोग जुड़ा होता है।

कृषि जैसे छोटे व्यवसाय द्वारा अनाज कमाने वाला किसान भी परोक्ष रूप से असंख्य व्यक्तियों के सहयोग से उस उपार्जन का लाभ प्राप्त करने में समर्थ होता है। चिरकाल पूर्व से ही अनेकों पीढ़ियों ने अपने ज्ञान एवं पुरुषार्थ के द्वारा खेती करने, खाद, पानी, निराई, गुड़ाई आदि की विधि-व्यवस्थाओं द्वारा एक व्यवस्थित कृषिशास्त्र की रचना की। विकास की क्रमिक शृंखला में यह कला और भी अधिक विकसित होती चली गई, अनेकों का चिंतन एवं पुरुषार्थ लगा एवं संबंधित अनेकानेक नए कृषि संयंत्रों का आविष्कार हुआ। आज भी जिन आधुनिक यंत्रों द्वारा कृषि होती है उनके निर्माण में कितने ही कारीगर इंजीनियर लगे हुए हैं। उनको प्रशिक्षित करने वाले अध्यापकों का मार्गदर्शन करने वाली पुस्तकों के लिखने में, पुस्तकों के लिए कागज की व्यवस्था करने में, प्रेस एवं छापने जैसे अनेकों कामों में असंख्यों व्यक्ति कार्यरत हैं। इस तरह प्रकारांतर से लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का श्रम, सहयोग कृषि उपकरणों के निर्माण में नियोजित रहता है। तब कहीं जाकर खेती के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध हो पाते हैं। यह प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोग न मिले तो एकाकी प्रयत्नों द्वारा कृषि जैसा साधारण समझा जाने वाला काम भी संपन्न न हो सके।

यह तो कृषि की बात हुई, उपार्जन के अन्यान्य स्रोतों व्यवसाय, उद्योग, नौकरी, दुकानदारी से होने वाले लाभों में अनेकों का सहयोग जुड़ा हुआ है। एकाकी मात्र अपने बलबूते कोई भी उपार्जन करने में समर्थ नहीं हो सकता। सहयोग की लंबी शृंखला का अध्ययन करें तो स्पष्ट होगा कि समस्त समाज ही एक चक्र में बँधा हुआ है। यह नियम किसी समाज विशेष के लिए ही नहीं बल्कि देश और समस्त विश्व के

लिए लागू होता है। एक देश में बनी हुई वस्तुएँ दूसरे देश में पहुँचती हैं और दूसरे की तीसरे में। कहीं किसी वस्तु की बहुलता है तो कहीं किसी की। जो देश प्रगतिशील एवं भौतिक रूप से संपन्न हैं उनकी संपन्नता का श्रेय अकेले उनको ही नहीं है। कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ जीवनयापन के समस्त साधन मौजूद हों। यह तो परस्पर विनिमय द्वारा उपलब्ध हो पाते हैं।

वस्तुएँ छोटी हों या बड़ी पर सहयोग तो हर देश को किसी न किसी प्रकार लेना ही पड़ता है। संपन्न राष्ट्र भी किसी न किसी वस्तु के लिए दूसरे देशों पर निर्भर हैं। अमेरिका को पेट्रोलियम, चीनी, फल, ऊन, टेक्सटाइल, कॉफी, विद्युत की छोटी-मोटी वस्तुओं के लिए अन्य देशों का मुँह ताकना पड़ता है। ब्रिटेन में दूध, मक्खन, कॉफी, फल, चीनी, चाय, कोका, तंबाकू, कोयला, पेट्रोलियम, गैस, ऊन, कागज का आयात अन्य देशों से करना होता है। कनाडा पेट्रोलियम, लोहा, स्टील, कॉफी, कोका, चाय, सब्जी, रसायन, कोयला, फोटोग्राफिक पदार्थ जैसी चीजों के लिए आत्मनिर्भर नहीं है। जापान ईंधन, पेट्रोलियम, टेक्सटाइल धागों, तेल के लिए विश्व के अन्य देशों पर निर्भर है। ये तो कुछ देशों के उदाहरण मात्र हैं। संसार के सभी देशों का अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होगा कि हर देश किसी न किसी वस्तु के लिए दूसरे देश पर आश्रित है। वस्तुएँ ही नहीं ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्रों में भी एक देश को दूसरे से सहयोग लेना होता है। इस प्रकार आदान-प्रदान एवं सहयोग से ही प्रगति क्रम आगे बढ़ता है।

अस्तु, व्यक्ति, समाज अथवा कोई देश जो उपार्जन करता है, वह समस्त मनुष्य जाति की संपत्ति है। उपलब्धियों में अनेकों का साझा है। सामने की वस्तुओं का एकांगी उपभोग अनैतिक माना गया है। दूसरों को भी इसका लाभ मिलना चाहिए। प्रकृति की व्यवस्था भी ऐसी है कि वह उतनी ही वस्तुएँ उत्पन्न करती है जिससे सब लोग मिल-जुलकर आसानी से जीवन-निर्वाह कर सकें। जिसने अधिक

कमाने में अपनी सूझ-बूझ, पुरुषार्थ एवं दूरदर्शिता का परिचय दिया उसे सराहा जाए। इतने भर से उपार्जनकर्ता को संतुष्ट रहना चाहिए। स्वयं कमाया है इसलिए उपभोग भी स्वयं करेंगे यह नीति संकीर्णता युक्त है और समाज में अमीरी, गरीबी की खाई और भी गहरी करती है। एक स्थान पर धन का संग्रह, अपव्यय, विलास, व्यसन आदि अवांछनीय प्रवृत्तियों को बढ़ावा देता है। प्रकारांतर से आर्थिक भ्रष्टाचार बढ़ता है। बढ़ती हुई अवांछनीयता-अपराध की घटनाओं में आर्थिक विषमता भी एक सीमा तक जिम्मेदार है। आँकड़े बताते हैं कि जिन देशों में लोकतंत्र की आड़ में पूँजीवाद को प्रश्रय मिल रहा है, अपराध सर्वाधिक होते हैं। इसका एक उदाहरण यूरोप का सबसे समृद्ध देश अमेरिका है। जहाँ मानवी मूल्यों एवं जीवन का सर्वाधिक अवमूल्यन हुआ।

यदि सभी समान अर्थ स्तर का सामान्य जीवनक्रम अपनाएँ तो परस्पर ईर्ष्या-द्वेष की, मनोमालिन्य की, अपराध-शोषण की, लालच-लिप्सा की गुंजाइश ही न रहेगी। अतएव धन संचय एवं उस पर एकाधिकार और स्वच्छंद उपभोग की वर्तमान छूट पर नियंत्रण किया जाना चाहिए। अतिरिक्त उपार्जन समाज में वापस लौटना चाहिए। धन की असमानता से समाज में अनेकों विकृतियाँ पैदा होती हैं और स्थिति असह्य होने पर साम्यवाद जैसी हिंसक क्रांतियाँ फूट पड़ती हैं। वस्तुतः व्यक्ति की मौलिक स्वतंत्रता को समाप्त करने वाली तथा स्वतंत्रता का मार्ग अवरुद्ध करने वाली साम्यवादी हिंसक प्रणाली का प्रादुर्भाव ऐसी ही विषम आर्थिक परिस्थितियों में हुआ है। जिन देशों में साम्यवाद पनपा और फैला है, उसका कारण यह नहीं था कि वहाँ के नागरिकों ने साम्यवाद को सर्वश्रेष्ठ प्रणाली मानकर अपनाया था, वरन यह था कि वहाँ की जनता एक ऐसे क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए इच्छुक थी जो आर्थिक विषमता को समाप्त करता हो। ऐसे अवसर पर साम्यवाद एक सशक्त हथियार के रूप में प्रस्तुत हुआ। निस्संदेह साम्यवाद के

अर्थ सिद्धांत समाज के लिए उपयोगी हैं, किंतु इन सिद्धांतों को लागू करने के लिए जिस हिंसक क्रांति का यह समर्थन करता है, वह हर दृष्टि से हानिकारक और विकास में बाधक है।

प्राचीनकाल में अपने यहाँ की व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ थी। हर व्यक्ति औसत दरजे के जीवनयापन को धर्म कर्त्तव्य मानता था। अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के बाद जो धन शेष बचता था, उसे स्वेच्छापूर्वक हर व्यक्ति दान के रूप में समाज को लौटा देता था। जो संग्रह करता था उसे सामाजिक घृणा और तिरस्कार का भाजन बनना पड़ता था। आज की भाँति संपन्नों को सम्मान देने की ओछी एवं विकृत मनोवृत्ति न थी। दान की प्रतिस्पर्द्धा चला करती थी। जो सर्वाधिक समाज के प्रति सहिष्णु और उदार होता था, उसे ही सम्मानित किया जाता था। संग्रह एवं उपभोग पर सामाजिक एवं नैतिक अंकुश रहने से सभी इसे हेय मानते थे। ऐसी स्वप्रेरित उदारता एवं आत्म-अंकुश बना रहे तो किसी भी प्रकार के बाह्य प्रतिबंध की आवश्यकता न पड़े।

अच्छा तो यह होगा कि अपने पुराने श्रेष्ठ आदर्शों को पुनर्जीवित किया जाए। बाह्य परिस्थितियों की माँग है कि समाज में समानता स्थापित हो-अमीरी-गरीबी की खाई मिटे। स्वेच्छापूर्वक वह संभव न हो सका तो बाहरी दबाव मनुष्य को बाध्य करेगा। राजा, रजवाड़े, जमींदारों ने जब स्वत: उदारता की नीति नहीं अपनाई तो शासन एवं कानून ने जबरन उन्हें अतिरिक्त संपदा को समर्पित करने को बाध्य किया। अपने आप यह उदारता प्रदर्शित करने के लिए वे यदि तैयार हो गए होते तो उन्हें श्रेय और सम्मान दोनों ही मिलता किंतु उलटे तिरस्कार का भाजन बनना पड़ा। संपत्ति और सम्मान दोनों ही हाथ से चले गए। अगले दिनों यही दुर्गति संपन्नों की भी होने वाली है। प्रजातांत्रिक देशों में साम्यवाद को मान्यता भले ही न मिले किंतु उसके आर्थिक समानता के सिद्धांत को सर्वत्र सराहा गया है और देश के आर्थिक विकास में इसे उपयोगी ठहराया गया है। विश्व के लगभग

आधे भाग में इन दिनों यही अर्थ पद्धति चल रही है। चीन, रूस, रूमानिया, बलगारिया, यूगोस्लाविया, हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, अलबानियाँ, पूर्वी जर्मनी, क्यूबा आदि देशों में इसी व्यवस्था द्वारा देश की आर्थिक व्यवस्था नियंत्रित होती है। इन देशों में अमीरी-गरीबी की खाई जबरन पाट दी गई है और हर व्यक्ति औसत नागरिक स्तर का जीवनयापन करता है। फलतः विलासिता से होने वाले अपव्यय को अवसर नहीं मिलता।

एक ओर साम्यवादी अर्थदर्शन आँधी-तूफान की भाँति आ रहा है और हिंसा-अहिंसा, नीति-अनीति के द्वारा जैसे भी बने आर्थिक विषमता को विश्व से समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। दूसरी ओर युग की मांग भी है कि अमीरी पर भी अंकुश लगाया जाए। दोनों मार्ग सामने प्रस्तुत हैं। अनास्था, निष्ठुरता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, मौलिक अधिकारों को समाप्त करने वाली साम्यवादी अर्थ पद्धति को अपनाया जाए अथवा अपने देश के उस पुरातन आदर्श को जिसमें संचय को पाप समझा जाता था। उन दिनों स्वेच्छापूर्वक औसत नागरिक स्तर के जीवनयापन से अतिरिक्त बची संपत्ति को समाज के लिए समर्पित कर दिया जाता था, जिससे समाज में परस्पर स्नेह, सहयोग, सहकार, आत्मीयता बनी रहती थी। मानवी मूल्यों की रक्षा बड़ी कीमत चुकाकर भी की जाती थी। अधिकारों की बहुलता होते हुए भी कर्त्तव्यों के निर्वाह के लिए प्रतिस्पर्द्धा चला करती थी और अधिकारों का उपयोग भी व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं, कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए किया जाता था।

दोनों व्यवस्थाएँ और उनसे जुड़ी भावी हानि-लाभ की संभावनाएँ हमारे सामने हैं। स्वेच्छा से उदारता का मार्ग नहीं अपनाया गया तो साम्यवाद की कठोरता निर्ममता से आर्थिक समता की स्थापना के लिए चढ़ दौड़ेगी। जो आँधी-तूफान से होने वाली तहस-नहस की भाँति समस्त मानवी मूल्यों को नष्ट कर डालेगी और तब मनुष्य

मात्र मशीन की भाँति काम करने वाला एक यंत्र भर बनकर रह जाएगा जिसमें न तो संवेदना होगी और न ही स्वतंत्र विचारणा। इनके अभाव में उसकी चेतना का स्वतंत्र और सर्वांगीण विकास अवरुद्ध हो जाएगा। ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हों, इसे कोई भी विचारशील, भावनाशील पसंद नहीं करेगा, विशेषकर भारतीय परिवेश में रहने एवं साँस लेने वाला कोई भी नागरिक नहीं स्वीकार कर सकेगा।

प्रजातांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत सभी परस्पर समता, शुचिता, एकता एवं आत्मीयता के सूत्र में बँधे रहें, इसके लिए उन आदर्शों का ही पुनर्जागरण करना होगा जो कभी स्वर्गोपम परिस्थितियों के लिए जिम्मेदार थे। विकास के लिए आवश्यक है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनी रहे।

भारत ही नहीं समस्त विश्व के लिए भी यही उदार अर्थनीति सर्वाधिक कल्याणकारी हो सकती है। अगले दिनों पूरे विश्व को एकता के सूत्र में आबद्ध होना है। अतएव नीतियों के निर्धारण में समस्त विश्व को ध्यान में रखकर चलना होगा। अभी तो देशों के बीच अमीरी-गरीबी की खाई अत्यधिक चौड़ी है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार संपूर्ण जनसंख्या का ३० प्रतिशत अर्थात १२० करोड़ व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ३६ हजार रुपये प्रतिवर्ष है। इसके अंतर्गत समस्त यूरोपीय देश रूस, जापान, अमेरिका आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त ८५ करोड़ व्यक्ति उन राष्ट्रों में हैं जो तेजी से प्रगति कर रहे हैं। ब्राजील, मैक्सिको, ताईवान जैसे देश इसी के अंतर्गत आते हैं। इनकी प्रति व्यक्ति आय ७६ सौ ५० रुपये है। इसके बाद ७५ करोड़ व्यक्ति एशिया के साम्यवादी देशों के आते हैं। चीन, उ. कोरिया, इंडोनेशिया आदि इसमें सम्मिलित हैं। इनकी प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष आय २२ सौ ५० रुपये हैं। १०० करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं, जो गरीबी की रेखा से भी नीचे हैं। उनकी प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष आय ९०० रुपये वार्षिक है।

समस्त विश्व में सुख-शांति बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि इस विषमता को मिटाया जाए। विश्व में बढ़ते हुए तनावों, संघर्षों, मतभेदों को देखते हुए मूर्द्धन्य विचारक, अर्थशास्त्री चिंतित हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि अर्थ की विषमता भी तनावों की बढ़ोत्तरी का एक कारण है। यह समस्या विश्वव्यापक सार्वभौम है। अतएव अब आवश्यक हो गया है कि समस्त विश्व के लिए अर्थनीति का निर्धारण किया जाए। वाशिंगटन इंस्टीट्यूट फॉर पालिसी स्टडीज' के संस्थापक एवं सह निर्देशक मिस्टर रिचार्ड जे. वारनेट ने अपनी 'दिलीन इयर्स पॉलिटिक्स इन दि एज ऑफ स्केयर्सिटी' में लिखा है कि मानव जाति अपना अस्तित्व बनाए रखने में असफल रहेगी, यदि विश्व में आर्थिक विषमता इसी प्रकार बढ़ती रही। किसी भी देश की संपदा समस्त विश्व की संपदा है। अतएव संपन्न देशों की प्रगति का लाभ गरीब देशों को भी मिलना चाहिए। उन्होंने चेतावनी दी है कि जब तक यह विषमता बनी रहेगी विश्वयुद्ध की विभीषिका टलने वाली नहीं है।

श्रीमती वाइवेरा को भी एक प्रसिद्ध विचारक एवं अर्थशास्त्री के रूप में मान्यता मिली है। श्री वाइवेरा ने एक पुस्तक लिखी है 'प्रोग्रेस फॉर स्माल प्लेनेट'। इस पुस्तक में वे लिखती हैं कि विश्वव्यापी तनावों का एक प्रमुख कारण आर्थिक विषमता है। यह निष्ठुरता एवं संकीर्णता का परिचायक है कि दुनियाँ की तीन-चौथाई जनता को विश्व की एक-तिहाई आय पर गुजारा करना पड़ता है जबकि तीन-चौथाई आमदनी का उपभोग मात्र एक-तिहाई व्यक्ति करते हैं। अभी भी एक अरब व्यक्तियों को रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा की अनिवार्य सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं।

'स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी फूड रिसर्च इंस्टीट्यूट' के डायरेक्टर वाल्टर पी. फल्काना के अनुसार, "वर्ष १९७८ में १३० लाख बच्चों की मृत्यु कुपोषण से उत्पन्न विभिन्न बीमारियों के कारण हुई। अपनी विलासिता

में थोड़ी कटौती संपन्न देश कर सके होते तो उन्हें आकस्मिक मौत के चंगुल से बचाया जा सकता था।'' उनके अनुसार, ''यह हृदयविदारक सिलसिला चलता रहेगा यदि पूरे विश्व के लिए उदारवादी अर्थनीति नहीं निर्धारित हुई।''

उचित साधनों द्वारा नीतिपूर्वक उपार्जन का अधिकार बना रहना किसी व्यक्ति विशेष अथवा राष्ट्र विशेष के लिए ही नहीं समस्त संसार के लिए श्रेयस्कर है किंतु दो हाथ से कमाने और सौ हाथों से दान करने अर्थात समाज-विश्वमानव के लिए बचे धन को समर्पित करने की उदारवादी भारतीय धर्म परंपरा को पुनः प्रचलित करना होगा। अपने देश के लिए तो यह श्रेयस्कर होगा ही, विश्व के लिए आर्थिक नवनिर्धारणों में भी सहयोग मिलेगा। प्रकृतिप्रदत्त अन्यान्य संपदाओं वायु, जल, सूर्य, आकाश, धरती की भाँति उपार्जित धन को भी संपूर्ण मानव समाज की संपत्ति मानने और तदनुरूप उसे नियोजित करने से ही समाज में शांति, सुव्यवस्था और सुरक्षा बनी रह सकती है।

❐

नवनिर्धारण में
विश्व-मनीषियों के मत

आज जो कुछ भी विश्व का स्वरूप दृष्टिगोचर हो रहा है, वह उस स्थिति से भिन्न है, जो आज से बीस वर्ष पूर्व था। सन् १९०० में विज्ञान की जितनी भी उपलब्धियाँ थीं, उन्हें आज के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है तो प्रतीत होता है कि ८० वर्षों में मानो एक युग ही बदल गया है। द्रुतगामी वाहनों का आविष्कार, चिकित्सा जगत में क्रांति एवं मनुष्य की अंतरिक्ष ग्रह यात्रा गत कुछ दशाब्दियों की ही तो देन है। आज से ८० वर्ष पूर्व मात्र १ अरब ९५ करोड़ व्यक्ति पृथ्वी पर थे। अपनी सीमित क्षमताओं में वे उपलब्ध संसाधनों का समुचित उपयोग तो न कर पाते थे पर संतुष्ट, प्रसन्न बने रहते थे। आज विश्व की जनसंख्या चार सौ चालीस करोड़ है जो आगामी बीस वर्ष में बढ़कर ६ अरब से अधिक हो जाएगी। इस नए दशक से, जो १९८१ से आरंभ हो गया है, एक नए ही युग का सूत्रपात हो रहा है। यदि कोई विश्व स्तर पर युद्ध अथवा महामारी, रोगों आदि के आक्रमण से नर संहार न हुआ तो इन आँकड़ों में थोड़ी न्यूनाधिकता तो हो सकती है, पर वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह एक कटु सत्य प्रतीत होता है।

सीमित स्थान, सीमित साधन एवं उस पर भी आवश्यकता से अधिक प्राणियों की इस ग्लोब पर भीड़ ने कई चिंतकों को भविष्य के संबंध में एक योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाने को गत दिनों विवश किया है। यह विधा कोई नई तो नहीं है पर जिन परिस्थितियों में उच्चस्तरीय बुद्धिजीवियों द्वारा इस विषय में यह चिंतन किया जा रहा है एवं सारे विश्व में इसकी चर्चाएँ हो रही हैं, उससे लगता है कि इसका महत्त्व एवं प्रयोजन कहीं अधिक विशिष्ट है।

'फ्यूचरोलॉजी' नाम से प्रख्यात इस विज्ञान को भविष्य की संभावित स्थिति को जानने की प्राथमिक मूलभूत विद्या कहा गया है। भविष्य का अनुभव कराने वाली प्रशाखा को इन भविष्य विज्ञानियों ने 'फ्यूचरिएस' नाम दिया है।

गत जुलाई १९८० को २४ व २५ तारीख को ५० राष्ट्रों के छह हजार प्रतिनिधियों का टोरोंटो कनाडा में एक विश्वस्तरीय समागम हुआ जिसमें हर जाति, रंग, लिंग के व्यक्तियों ने भाग लिया। मूल नारा था 'थिंकिंग ग्लोबली एक्टिंग लोकली' अर्थात स्थानीय प्रयासों के लिए विश्वस्तर पर सोचने वाली बुद्धिजीवियों की एक संस्था। 'फर्स्ट ग्लोबल कांफ्रेंस ऑन फ्यूचर' नाम से आयोजित इस सम्मेलन में दुनिया के जाने-माने चिंतकों तथा भविष्यविदों ने भाग लिया। इनमें से प्रमुख थे-मार्गरेट मीड, हरमन कॉन, शान ब्रामेन, एरिक एसिमोव, मारिस स्ट्रांग, फ्रैंक फीदर, क्लाडियो गालियो, मेरी डेरोर्ड, स्टीफन क्रोजियर, जेफ बीन, हेजेल हेंडरसन, ट्रूवेर हेनकाँक एवं तिमोथी लियरी। यह वे वैज्ञानिक हैं जिन्होंने तर्क एवं तथ्यों के आधार पर आज सारे विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रखा है, आने वाले युग की समस्याओं व विभीषिकाओं के प्रति जनमानस को सचेत किया है।

इस समागम के सभापति थे-कनाडियन इंपीरियल बैंक के अध्यक्ष एवं कनाडियन फ्यूचर सोसाइटी के उपाध्यक्ष श्री फ्रैंक फीदर। इनको चेयरमेन होने का सौभाग्य मिला। भारत के श्रीरश्मिमयूर जो बंबई में शहरी विकास संस्थान के अधिष्ठाता हैं। इन दोनों ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि भविष्य चिंताजनक है, पर हम आशावादी हैं। अब कहने व सोचने का समय चला गया। अब तो कुछ कर गुजरने पर ही उतरना होगा। दोनों ने युग परिवर्तन की (ट्रांसफॉर्मेशन) आवश्यकता एवं संभावनाओं पर बल दिया यह कैसे हो, कौन करे, यही था बहस का मूल मुद्दा।

इस अधिवेशन में हुए परस्पर परामर्श (डिस्कशन) की एक प्रमुख विशेषता थी–इसके वक्ताओं की भविष्य के प्रति चिंता, पर साथ ही उनका आशावादी दृष्टिकोण से जुड़ा होना। 'ग्लोबल समाज' के अध्यक्ष श्री मॉरिस स्ट्राँग ने संवाददाताओं को बताया कि उनके पास निष्कर्षों के रूप में एक बुरी खबर है एवं एक अच्छी भी। बुरी यह कि अगले दस वर्षों में संसार का अंत समीप है। प्रकृति से खेलकर मानव ने स्वयं अपने हाथों अपनी कब्र खोद ली है। एक शुभ समाचार यह है कि ऐसे प्रयास जिनके द्वारा इस विभीषिका को नियंत्रित किया जा सके, अब कार्यक्षेत्र में उतर रहे हैं। कोई कारण नहीं कि सुनियोजित क्रिया पद्धति से विश्वस्तर पर एक उज्ज्वल भविष्य की रूपरेखा बनाई जा सके। वस्तुतः यह एक सुनिश्चित तथ्य एवं ध्रुव सत्य है कि जिस घुटन भरे युग से हमें आज गुजरना पड़ रहा है, वह अधिक समय तक ऐसा ही नहीं बना रह सकता।

समष्टिगत विवेकपूर्ण चिंतन 'ग्लोबल अंडरस्टेंडिंग' इस सम्मेलन की विशेषता थी। पहली बार जनस्तर पर विभिन्न फैकल्टीज के विशेषज्ञों ने स्वार्थपरता त्यागकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना के विस्तार का आह्वान किया। अपने ही क्षणिक स्वार्थों में लिप्त रहकर संतुष्ट बने रहने का समय अब नहीं रहा। अब या तो सभी एक साथ मरेंगे या जिएँगे। यदि विकसित देशों की ऐसी मान्यता है कि औद्योगीकरण एवं तकनीकी का विकास कर वे स्वयं समृद्ध हो जाएँगे भले ही अधिसंख्य जनता गरीब बनी रहे तो यह कोरा भ्रम ही है। उन्हें अब सबको साथ लेकर ही चलना होगा। भविष्यविदों का कथन था कि पर्यावरण किसी देश विशेष की अमानत नहीं है। यदि इसमें असंतुलन होता है तो वह अमेरिका एवं यूरोप को भी उतना ही प्रभावित करेगा जितना कि क्यूबा, फिलिपाइंस, ताइवान, कोरिया जैसे छोटे देशों को। अर्थ, प्राकृतिक संसाधनों एवं ऊर्जा के भंडारों पर अब कोई कुंडली मारकर नहीं बैठा रह सकता। सारी वसुधा को एक कुटुंब मानकर सारा

विश्व एक व्यवस्था में चले, यही विधाता की इच्छा है एवं यही मानव के अस्तित्व का एकमेव मार्ग है।

वर्ल्ड बैंक की नीति निर्धारण समिति के निर्देशक महबूब उल हक ने इस अवसर पर बोलते हुए कहा कि अब समय आ गया है कि गरीब राष्ट्रों को भी विकसित धनी राष्ट्रों की आय में से हिस्सा मिले! इसके लिए उन्होंने एक सार्वभौम अर्थव्यवस्था की वकालत की जिसमें धनी देशों की कुल जमा पूँजी पर कर लगाया जा सके। इस कर की अतिरिक्त आय का उपयोग विकासशील गरीब राष्ट्रों के समग्र विकास हेतु किया जाए। उनके अनुसार आँकड़े बताते हैं कि विश्व के कुछ धनी माने जाने वाले राष्ट्रों के पास कुल जमा पूँजी जो कि सारे विश्व की दौलत का ७८ प्रतिशत है, ८४८७ अरब रुपये हैं। जबकि शेष राष्ट्रों के पास मात्र २३००० अरब रुपये की राशि है। जबकि वे सारे विश्व की ८० प्रतिशत जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी राय थी कि वर्ल्ड बैंक की वित्तीय व्यवस्था में समुचित परिवर्तन किया जाए एवं एक कोष के माध्यम से तृतीय दुनिया के राष्ट्रों के विकास हेतु मद इन्हीं राष्ट्रों के बजट से निकाली जाए।

श्री हक के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण सुझाव थे–प्राकृतिक संसाधनों का सुव्यवस्थित केंद्रीय नियोजन, प्रदूषण रहित ऊर्जा कार्यक्रम, गरीबी उन्मूलन हेतु एक अंतर्राष्ट्रीय फोरम, गरीब राष्ट्रों में जनसंख्या वृद्धि की रोकथाम, राष्ट्रों को विभाजित करने वाली सीमाओं के बंधन खोलना एवं युद्धास्त्रों के निर्माण व दुरुपयोग पर एक संतुलित व्यवस्था का नियंत्रण। भले ही ये कल्पनाएँ सत्य न हो पाएँ पर वे यह बताती हैं कि इन दिनों विश्व चिंतन की दिशा क्या है?

फ्यूचर सोसाइटी एवं इसके जैसी अन्य संस्थाओं के ये निर्धारण निश्चित समय के अनुकूल हैं एवं उस समष्टिगत चेतन-प्रवाह के अंग प्रतीत होते हैं जो ८० के दशक में सारी मानवता को प्रभावित कर रहा है। जिन्हें मूढ़ता घेरे रहती है, उनकी संख्या इस धरती पर कम नहीं।

मरने के दिन अति निकट आ जाने और परिवार द्वारा अपमानित होते रहने पर भी अधिकांश वृद्ध मोह-माया के दलदल में बरबस फँसते चले जाते हैं। ऐसे लोग इस दुनियाँ में हैं जिन पर न ज्ञान का असर पड़ता है न विवेक का प्रकाश पड़ता है। यदि ये न सुधरे तो महाकाल की प्रेरणाएँ इन गतिरोधों को अपनी लात से कुचलकर रख देने के लिए विवश हो जाती हैं। निष्कर्ष यही कि इस संधि-वेला में मानव जाति का सद्भावना संपन्न वर्ग विशेष रूप से जागे और अपने विशिष्ट उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिए तत्पर हो। यह सामान्य दशक नहीं, आपत्तिकाल है। साधारण गतिविधियाँ ऐसी स्थिति में रोक दी जाती हैं एवं विवेकवान जाग्रत आत्माओं से विशिष्ट पुरुषार्थ की अपेक्षा की जाती है। समय पुकारकर कह रहा है कि भविष्य का निर्धारण सुनियोजन अब इसी वर्ग को करना चाहिए। वैसे प्रयास चल भी पड़े हैं। आशा रखनी चाहिए कि ऐसे प्रयत्नों के पीछे उद्देश्यों की पवित्रता एवं व्यापकता को दृष्टिगत रखकर जाति, वर्ग, लिंग भेद से परे सारे विश्व के मानव युग निर्माण हेतु एक मंच पर शीघ्र ही एकत्रित होंगे।

❐

पारिवारिकता के विस्तार में एक सार्वभौम भाषा की आवश्यकता

वाणी अथवा लेखनी द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। भाषा ने मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में असाधारण योगदान दिया है। विचारों एवं भावों को प्रकट न कर पाने के कारण मनुष्येतर जीवों को कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, यह सभी जानते हैं। यह कठिनाई आदिमानव के सामने भी थी। उसे अपना पिछड़ापन अच्छा न लगा। विकास की अंत:प्रेरणा उठी और प्रयास चल पड़े। सबसे बड़ी समस्या आड़े आ रही थी विचारों को व्यक्त न कर पाने की। जिसके रहते परस्पर सहयोग-सहकार को अपनाकर प्रगतिपथ पर आगे बढ़ना कठिन था।

इस दिशा में प्रयास चल पड़े और अनवरत प्रयत्नों के फलस्वरूप भाषा का विकास हुआ। निस्संदेह वह मानव विकास के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण दिन रहा होगा जिस दिन उसे क्रमबद्ध भाषा का ज्ञान प्राप्त हुआ। विगत सदियों में समस्त संसार आज जैसा सिमटा हुआ नहीं था। विशाल भूभाग कितने ही प्रदेश परस्पर एक दूसरे से अपरिचित थे। अपने सीमित क्षेत्र के अतिरिक्त भी दुनियाँ है, इसका ज्ञान भी न था। वे अपने सीमित क्षेत्र में रहते, उसी परिधि में सोचते और सामुदायिक विकास के लिए प्रयत्न करते थे। अनेकानेक प्रकार की भाषाओं का विकास भी इसी कारण हुआ होगा। एक समुदाय, एक प्रदेश के लोगों ने अपनी सुविधानुसार भाषा विकसित कर ली और दूसरे ने दूसरी तरह की। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे से विलग रहने अथवा अपरिचित बने रहने से प्राय: जानकारियों का आदान-प्रदान न हो पाता था। विविध प्रकार की भाषाएँ विभिन्न सामाजिक परिवेश में विकसित होती चली गईं।

विकास के क्रमिक सोपान पर चढ़ते हुए आज मनुष्य वहाँ आ पहुँचा है जिसे वैज्ञानिक युग कहा जाता है। विज्ञान के आश्चर्यजनक आविष्कारों ने एक से एक बढ़कर सुविधाएँ प्रदान की हैं। संचार, परिवहन, यातायात के नवीनतम साधन उपलब्ध हो जाने के कारण समस्त विश्व एक मुहल्ले की भाँति सिमट गया है। इतना होते हुए भी भाषाई भिन्नता के कारण एक समाज, एक देश के ज्ञान की जानकारी दूसरे को मिलने में वर्षों लग जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान के इस युग में हर क्षेत्र में नित नए आविष्कार हो रहे हैं। एक भाषा रही होती तो समस्त संसार को उसका तत्काल लाभ मिलता किंतु ऐसा नहीं हो पाता। वर्षों बाद दूसरी भाषाओं में विविध जानकारियों का रूपांतर होता है। इस अवधि में तो वह ज्ञान पुराना पड़ जाता है और कितने ही उलट-फेर हो जाते हैं।

विश्व भर में अभी तक ज्ञात भाषाएँ तीन हजार के लगभग हैं। तेरह भाषाओं के माध्यम से संसार के लोगों से बातचीत की जा सकती है। विश्व की प्रमुख भाषाएँ हैं–डेनिस, स्वीडिस, नार्स, जर्मन, इटालियन, आइसलेटिक, पुर्तगाली, वेल्श, बल्गेरियन, आयरिश, पोलिश, हिंदी, पूशयन, चेक, फिनिश, अरेबियन, हिब्रू, उर्दू बर्बर, सोमाली, टिवेटन, टर्कीज, बर्मीज, सियामिज, मंचू, कोरियन, जापानी, स्वाहिली, उजनेक आदि।

'दी वर्ल्ड एलमेनक १९८०' के अनुसार संसार की प्रमुख भाषाओं को बोलने वालों की संख्या इस प्रकार है–अरेबिक-चौदह करोड़ बीस लाख, बंगाली-१४ करोड़, चीनी-अस्सी करोड़ दस लाख, अँगरेजी-छियानवे करोड़, फ्रेंच-दस करोड़, जर्मन-बारह करोड़, हिंदी-तेईस करोड़, जापानी-ग्यारह करोड़ पचास लाख, कोरियन-पाँच करोड़ सत्तर लाख, मलाया इण्डोनेशियन-दस करोड़ साठ लाख, डच (नीदरलैंडिश) दो करोड़, पोर्तुगीज-चौदह करोड़ दस लाख, रशियन-

पच्चीस करोड़ नब्बे लाख, स्पेनिश-तेईस करोड़ अस्सी लाख, टर्किश-चार करोड़ बीस लाख, उर्दू-छह करोड़ पचास लाख, वियतनामिज-चार करोड़ दस लाख, इटालियन-छह करोड़ दस लाख एवं पंजाबी-छह करोड़ दस लाख।

अकेले भारत में एक सौ इक्यासी प्रकार की भाषाएँ और पाँच सौ चवालीस तरह की बोलियाँ बोली जाती हैं। भारत में छपने वाले दैनिक, साप्ताहिक, मासिक समाचारपत्रों की संख्या ८७०० है। अँगरेजी के पत्र-पत्रिकाएँ दो हजार पाँच सौ साठ तथा हिंदी के तीन हजार एक सौ बयालीस प्रकाशित होते हैं। शेष पत्र पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली, उर्दू, मलयाली आदि भाषाओं में छपते हैं। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार प्रेस उद्योग के दैनिक प्रकाशनों में कुल पचपन करोड़ रुपये की धनराशि लगी हुई है। यह तो मात्र भारत के आँकड़े हैं। अन्यान्य देशों के अनुपलब्ध हैं। यूनाइटेड नेशन्स आर्गनाइजेशन द्वारा मान्यता प्राप्त देशों की कुछ संख्या १५४ है। इन देशों का भी दैनिक प्रकाशनों में औसत व्यय भारत जितना ही माना जाए तो विश्व के दैनिक प्रकाशनों में प्रतिदिन खरच ८४ अरब ७० करोड़ रुपये आते हैं। विविध विषयों पर विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों पर होने वाला व्यय इससे भी कई गुना अधिक है।

भाषा की अनेकता के कारण प्रकाशनों के लिए अनेकों प्रकार के टाईप की व्यवस्था करनी पड़ती है। जिसे बनाने के लिए विपुल धनशक्ति और श्रमशक्ति लगी हुई है। अलग-अलग भाषाओं के लिए अलग व्यवस्था जुटाने में ढेरों समय, श्रम और धन की बरबादी होती है। एक भाषा रही होती तो समय, श्रम और धन की बचत होती, जिसका नियोजन अन्यान्य रचनात्मक कार्यों के लिए किया जा सकता था।

यह तो अर्थ की बात हुई। भाषाओं की विविधता से परस्पर आपसी संबंधों को मधुर एवं प्रगाढ़ बनाने में भी कठिनाई होती है। एक भाषा का जानकार दूसरी भाषा के जानकार से मिलता है तो परायापन जैसा लगता है। इसके विपरीत एक भाषा के बोलने वाले जब एकत्रित होते हैं तो अपनेपन की अनुभूति अपने आप होने लगती है। स्नेह और सहानुभूति के आदान-प्रदान का क्रम चल पड़ता है। विदेशों में अपने क्षेत्र के रहने वाले, अपनी भाषा बोलने वाले जब मिलते हैं तो सहज ही प्रसन्नता होती है और आत्मीयता बढ़ती है।

सूक्ष्मदर्शियों, विश्व के मूर्द्धन्य मनीषियों का कहना है कि अगले दिनों समस्त विश्व को एक राष्ट्र के रूप में विकसित होना होगा। इसके बिना अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में बढ़ते हुए तनावों को कम नहीं किया जा सकेगा। अस्तु, योजनाएँ 'ग्लोबल स्तर' पर बनानी होंगी। विश्वमानव की सुख-शांति का लक्ष्य लेकर चलना होगा। इस महान लक्ष्य की आपूर्ति में पहला कदम उठाना होगा समस्त संसार के लिए एक भाषा के नवनिर्धारण का।

पिछली एक सदी में इस दिशा में कुछ छिटपुट प्रयास भी चले हैं किंतु सुव्यवस्थित न होने से उतने सफल न हो सके। कितने ही विद्वानों ने विश्व को एक स्थायी सार्वभौम भाषा देने के लिए अपने-अपने स्तर पर प्रयत्न किए हैं। सन् १८८७ में पोलैंड के डॉ. लूडबिड जेम्स हाफ ने 'एस्पेरंटो' भाषा का विकास किया। इस संबंध में उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी है-'टोक-टोरोएस्पेरेंटो।' इस पुस्तक में कुल ९२१ शब्द हैं जो विश्व की प्रमुख लिपियों से लिए गए हैं। आरंभ में इस भाषा का प्रयोग ८३ देशों के एक लाख व्यक्तियों ने किया। ५० राष्ट्रीय एशोसिएशन, २२ अंतर्राष्ट्रीय व्यावसायिक समुदाय और १२० से भी अधिक लोकल क्लब तथा संस्थाओं ने इसका प्रयोग किया। किंतु विश्व राष्ट्रसंघ अथवा 'लीग ऑफ नेशंस' द्वारा यह

मान्यता प्राप्त न कर सकी। आरंभ में जो उत्साह दिखाई पड़ा, लोगों में वह भाषा के प्रति बाद में समाप्त हो गया। अपनी कमियों के कारण यह भाषा विश्वभाषा का रूप न ले सकी।

इसके पूर्व भी जोन मार्टिन स्केलेयर नामक विद्वान ने अनेकों भाषाओं के सम्मिश्रण से सन् १८८० में 'वोलापिक' नामक भाषा को विश्वभाषा का स्वरूप देने का प्रयास किया, किंतु यह प्रयास असफल रहा। इसका कारण था उसका असंबद्ध, अव्यवस्थित और अधूरा प्रयत्न।

सन् १९०७ में लायस डी. व्यूफ्रांट नामक विद्वान ने ऐस्पेरेंटो भाषा से प्रेरणा लेकर नए सिरे से अंतर्राष्ट्रीय भाषा के लिए प्रयास किया। नव आविष्कृत भाषा का नाम उसने रखा–'इडो'। किंतु यह भी मात्र चर्चा तक सीमित रही और विश्वभाषा का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकी। इस दिशा में सोचने और कुछ करने वाला चौथा व्यक्ति था–डेनमार्क का 'ओटो जेसपर्सन।' उसने सन् १९२८ में 'नोवियल' नामक भाषा का आविष्कार किया, किंतु अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसे भी अपनी कमियों के कारण मान्यता न मिल सकी।

लेटिन भाषा को आधार मानकर गणितज्ञ गायस पी. पीयनो ने १९०३ में 'इंटरलिंगुआ' (लेटिनोसाईनफलेक्सिन) नामक भाषा का विकास किया। यह विभिन्न भाषाओं की खिचड़ी थी। इस तरह का दूसरा प्रयास करने वाला व्यक्ति था–एडगर डी. वहल। १९२२ में 'आक्सींटल' नाम की भाषा को उसने विश्वभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया, किंतु विश्वभाषा के लिए उपयोगी विशेषताओं के अभाव के कारण उसे असफलता ही हाथ लगी।

ब्रिटिश मनोवैज्ञानिक और शिक्षाशास्त्री चार्ल्स के. ओडगन ने सन् १९८२ में अँगरेजी की लोकप्रियता को देखते हुए 'बेसिक इंगलिश' में ही आवश्यक हेर-फेर करके अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रस्तुत

करने का प्रयत्न किया। ८५० शब्दों का एक नया शब्दकोश तैयार किया गया किंतु विश्व की प्रमुख भाषा को ही वरीयता और महत्त्व दिए जाने से बेसिक इंगलिश को भी अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मान्यता न मिल सकी।

इन असफलताओं के बावजूद भी विश्व भाषा की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' ने उपर्युक्त प्रयासों पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है, "विश्व में एक सार्वभौम की खोज जारी है। अब तक इस दिशा में पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी, इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि भविष्य में खोज बंद हो जाएगी। इसकी पूरी-पूरी संभावना है कि समय के विकास के साथ-साथ यह अनुभव किया जाएगा कि बहुत सारी भाषाएँ विस्तृत संसार और मानवी विकास में अवरोधक हैं। विविध भाषाओं के सीमित क्षेत्र में प्रयोग की असुविधा के कारण अगले दिनों एक भाषा चुनने और विकसित करने की आवश्यकता पड़ेगी। समस्त विश्व को भावनात्मक एकता के सूत्र में आबद्ध करने लिए इस दिशा में अब मनीषियों को सोचना और नवनिर्धारण के लिए अविलंब कदम उठाना चाहिए।

❐

बारूद के एक ढेर पर बैठी है यह दुनियाँ

विज्ञान की अपनी गरिमा है, प्रगति का अपना महत्त्व। इन दोनों की उपयोगिता-आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। इतने पर भी इनका लाभ तभी है, जब सृजन की दिशा में उन्हें प्रयुक्त किया जाता रहे। विनाश के लिए उपयोग की गई शक्ति सदा घातक ही होती है। सामर्थ्य जितनी अधिक होगी विकास या विनाश का उपक्रम भी उसी अनुपात में चलेगा।

यह प्रगति का युग है। विज्ञान क्षेत्र की प्रतिभाएँ इस क्षेत्र में विशेष रूप से अग्रणी हैं। शासन का सहयोग प्रोत्साहन उनके साथ है। प्रचुर साधन उपलब्ध करने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। औद्योगिक उपार्जनकर्ता एवं व्यवसायी ऐसी उपलब्धियों की ताक में रहते हैं ताकि उन्हें समृद्ध बनने का कोई अवसर हाथ लग सके। इसलिए शासन की तरह संपत्तिवान भी विज्ञानियों को चरम पुरुषार्थ करने एवं उनके लिए लाभदायक आधार खड़े करने के लिए हर संभव सहयोग देते रहे हैं। इन्हीं परिस्थितियों में विज्ञान की उन धाराओं को अधिक अग्रगामी बनने का अवसर मिला है, जो शासकों एवं औद्योगिकों को अधिक सामर्थ्य प्रदान कर सकें। आयुध, भौतिकी एवं औद्योगिकी को इस आधार का प्रोत्साहन मिला है और वह प्रगति की चरम सीमा तक जा पहुँचा है।

पिछले युद्धों और महायुद्धों के रोमांचकारी विवरण को पढ़कर भावी युद्धों की कल्पना भर से हृदय धड़कने लगता है। उनमें आक्रांता और आक्रांत समुदायों को ही क्षति नहीं पहुँचेगी वरन मानव समाज को समूची प्रगति से हाथ धोना पड़ेगा। इतना ही नहीं मानवीय अस्तित्व तक का बने रहना कठिन हो जाएगा। आयुधों के स्तर और

परिमाण पर दृष्टिपात करने से महाविनाश की विभीषिका सामने आ जाती है।

महान वैज्ञानिक आइन्स्टीन से एक बार पूछा गया कि तृतीय विश्वयुद्ध में कौन-कौन से हथियारों का प्रयोग होगा? इसके उत्तर में उन्होंने कहा था कि इस संबंध में तो मैं कुछ नहीं कह सकता, पर इतना निश्चित है कि चौथा विश्वयुद्ध पत्थर के हथियारों से लड़ा जाएगा।

यह बात उस समय भले ही सामान्य ढंग से कही गई हो परंतु वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करने से यह आभास हो जाता है कि आइन्स्टीन के इस कथन के पीछे गंभीर आशय छिपा हुआ था। आणविक हथियारों की होड़ से दुनिया में आज इन आयुधों का इतना विशाल भंडार हो गया है कि अगला विश्वयुद्ध अब निश्चितत: आणविक हथियारों से ही लड़ा जाएगा जिसमें सभी कुछ नष्ट हो जाएगा। तकनीक ही तकनीक को खा जाएगी। समस्त संसार रेडियोधर्मिता के कारण मनुष्य के रहने योग्य नहीं रह जाएगा। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि मनुष्य के पास पत्थरों के अतिरिक्त कुछ रह ही नहीं जाएगा।

पिछली शताब्दी से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध तक, दूसरे विश्वयुद्ध से लेकर आज तक संहारक अस्त्रों की संख्या निरंतर बढ़ती ही जा रही है। न केवल नए प्रकार के अस्त्र विकसित हुए हैं, वरन परंपरागत अस्त्रों में भी आश्चर्यजनक सुधार किए गए हैं। यदि तीसरा विश्वयुद्ध हुआ तो उसमें किस प्रकार के अस्त्र प्रयोग किए जा सकते हैं? इसका अनुमान लगाना कठिन है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में ही जर्मनी ने एक ऐसी राइफल निर्मित की थी जो एक के बाद एक लगातार फायर कर सकती थी। तब से लेकर अब तक इस प्रकार की राइफलों के नए-नए संस्करण एवं स्वरूप सामने आ चुके हैं। परंपरागत राइफल में एक बार में एक ही लक्ष्य पर गोली दागी जा सकती थी परंतु इन नई राइफलों में धड़ाधड़ गोली दाग सकने की व्यवस्था है। इन नवीन प्रकार की राइफलों में भी अब सुधार किए जा रहे हैं। एक तो यह कि

जब चाहें लगातार फायर कर सकें; जब चाहें एक-एक करके फायर किए जा सकें। दूसरा सुधार लक्ष्य पर ही निशाना लगा सकने की व्यवस्था में किया गया है, जिससे रात हो अथवा दिन, अचूक निशाना लगाया जा सकता है। इस तरह की राइफलें भी बनाई जा रही हैं। जिनसे परंपरागत गोलियों के स्थान पर पेंसिल के सिरों की मोटाई वाले कंटीले बाणों की वर्षा हुआ करेगी। आगामी समय में भी संभावना है कि राइफल की तरह राकेट फेंकने वाले यंत्रों की सहायता से प्रत्येक सैनिक छोटे-छोटे प्रक्षेपास्त्र दुश्मन पर फेंक सकेगा। एक संभावना यह भी है कि सिपाहियों को लेजर किरणें छोड़ने वाली बंदूकें दी जाएँ। अभी तक इन बंदूकों के बारे में गप्प साहित्य में ही पढ़ा गया होगा परंतु वास्तविकता यह है कि ऐसे अस्त्र बनाए जा चुके हैं।

प्रचलित आयुधों में तोपखाने का विशेष महत्त्व रहा है। इधर पिछले एक दशक में अनेक देशों ने ऐसी हलकी एवं प्रभावशाली तोपें विकसित की हैं, जिन्हें बंदूक की तरह सुगमता से उठाकर ले जाना सर्वथा संभव हो गया है। जमीन पर लड़े जाने वाले युद्धों में प्रयुक्त होने वाले आयुधों में टैंकों का विशेष स्थान है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी ने उनका प्रयोग प्रदर्शन करके उनकी उपयोगिता की सत्यता सिद्ध कर दी है। अब तो टैंकों का भी बहुत विकास हो चुका है। फ्रांस, ब्रिटेन, रूस, अमेरिका, स्वीडन तथा जर्मनी ने टैंकों के विकास में उल्लेखनीय प्रगति की है। सामान्यत: टैंक बहुत भारी हुआ करते थे और उनका इच्छानुसार उपयोग कठिनता से हो पाता था। जर्मनी ने ऐसे टैंक विकसित किए हैं, जिनका वजन ४० टन से कम है। इस दिशा में फ्रांस और ब्रिटेन तो और भी आगे निकल गए हैं। इन देशों ने ऐसे टैंक निर्मित किए हैं जो अभी तक प्रकाश में आए टैंकों से सब दृष्टियों से बेहतर तो हैं ही वरन उनका भार भी दस टन से कम है। अधिक विस्मित कर देने वाली बात तो यह है कि अब तक तो टैंकों पर लंबी-लंबी तोपें फिट रहती थीं, किंतु अब उनके अंदर ही तोपें फिट करने की व्यवस्था की जा चुकी है। इसके साथ ही कम ऊँचाई के टैंक भी विकसित किए जा चुके हैं।

यह तो लड़ाई में प्रयोग किए जाने वाले परंपरागत हथियारों की बात हुई। विगत तीन-चार दशकों में इस क्षेत्र में कल्पनातीत प्रगति हुई है। १९५० की मध्यावधि में आवागमन के क्षेत्र में एक तेज गति से चलने वाला वायुयान 'होवर क्राफ्ट' अस्तित्व में आया। यह अत्यधिक शोर करने वाला अंधाधुंध धुआँ छोड़ने वाला द्रुतगामी वाहन होता है। विश्व के कई देश वर्तमान होवर क्राफ्ट के ढाँचे का परिवर्द्धन-संशोधन करने में लगे हुए हैं। जानकारों का अनुमान है कि गतवर्ष अमेरिका अपनी नौ सेना के लिए १६० टन का ऐसा होवर क्राफ्ट तैयार कर चुका है जो ४०० सैनिकों अथवा अन्य युद्ध सामग्री को सैकड़ों-हजारों मीलों तक सुगमता से ढो लेता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जिन आयुधों में कल्पनातीत विकास हुआ है, उनमें प्रक्षेपास्त्र प्रमुख हैं और आज तो प्रक्षेपास्त्र किसी भी राष्ट्र के लिए प्रतिष्ठा के चिह्न बन गए हैं। विश्व के बड़े देश ही नहीं बल्कि ब्राजील एवं दक्षिण अफ्रीका जैसे छोटे देश भी प्रक्षेपास्त्र बनाने में जुटे हुए हैं। सन् १९४४ के बाद से अब तक प्रक्षेपास्त्रों में चमत्कारिक विकास हुआ।

कुछ देश वर्षों से अनुसंधान करने के उद्देश्य से उपग्रह छोड़ रहे हैं। विशेषज्ञों का कहना है कि अब ऐसे भी उपग्रह विकसित किए जा चुके हैं जो अनुसंधान करने के बहाने इच्छानुसार बम गिरा देंगे।

इन दिनों रासायनिक युद्धों की चर्चा जोरों पर है और विशेषकर वियतनाम में अमेरिका द्वारा नापाम बम बरसाए जाने से सबका ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध में अश्रु गैस के अलावा जहरीली गैस तथा नापाम बमों का प्रयोग किया गया था। उल्लेखनीय है कि प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी ने जिस ज्वलनशील प्रक्षेपास्त्र का प्रयोग किया था, नापाम बम उसी का परिवर्द्धित-संशोधित रूप है। इस प्रकार के ५ लाख टन नापाम बम अब तक विभिन्न देशों पर गिराए गए हैं। कोरिया युद्ध में ३ हजार टन तथा वियतनाम युद्ध में ४ लाख टन नापाम बम वर्षा कर अमेरिका ने संसार को हिला दिया।

परंपरागत युद्ध का तो मानव जाति को पूरा अनुभव है, परंतु बीसवीं शताब्दी में विज्ञान की आशातीत प्रगति ने युद्ध को अब कई नए आयाम दिए हैं। विज्ञान और टेक्नोलॉजी ने जहाँ मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने के साधन प्रस्तुत किए हैं, वहीं उसकी मौत का घातक सरंजाम भी इकट्ठा कर दिया है। एक किलो टन से लेकर ६० मेगाटन और अधिक तक की शक्ति के आणविक बमों का निर्माण हो चुका है और अनुमान है कि १९८२ के अंत तक विश्व में १५००० प्लूटोनियम बमों का निर्माण प्रतिवर्ष किया जाने लगेगा।

कनाडा के अल्विन पोलपोण्ड नामक भौतिकविद् ने एक आँकड़ा प्रस्तुत किया है, जिसमें अमेरिका की अकेली परमाणविक शक्ति का उल्लेख किया गया है। उनका कहना है कि अनुमान करें कि एक बड़े हॉल में एक लाख व्यक्ति एकत्रित हों और प्रत्येक के हाथ में तीन परमाणु बम हों। प्रत्येक बम की मारक क्षमता हिरोशिमा पर गिराए गए बम के बराबर हो। इतनी परमाणविक शक्ति आज अकेले अमेरिका के पास है। अन्य राष्ट्रों की पूरी जानकारी नहीं मिल पाई है, पर अनुमान किया जाता है कि सारे विश्व में परमाणु बम अरबों टी. एन. टी. विनाशक क्षमता के बराबर हैं। यह मात्रा इतनी अधिक है कि संसार की ४११ करोड़ जनसंख्या में से प्रत्येक व्यक्ति को ५० हजार बार मारा जा सकता है। इससे बढ़कर विचारशीलता का अभिशाप एवं बुद्धि पर लगा कलंक और क्या हो सकता है कि मनुष्य ने अपने को ही ५० हजार बार मारने की तैयारी कर ली है।

अब तक अनेकों प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों, परमाणु हाइड्रोजन बमों की, मिसाइलों की चर्चा सर्वाधिक घातक एवं विनाशक शस्त्रों के रूप में की जाती थी। विज्ञान के ध्वंसात्मक आविष्कारों में एक नवीनतम कड़ी जुड़ी है-लेजर संयंत्रों की। सूर्यशक्ति से मनुष्य जाति आदिकाल से ही प्रकाश, ताप, अग्नि और प्राणतत्त्व प्राप्त करती रही है। सूर्य शक्ति का भंडार है। विज्ञान ने सूर्य की किरणों से ही एक नई शक्तिधारा प्राप्त की है। सात रंग की सूर्य रश्मियों से लाल रंग की

किरणों से प्राप्त की गई शक्तिधारा का नाम लेजर है। अब तक अणुशक्ति को सर्वाधिक सामर्थ्यवान और प्रचंड शक्ति संपन्न समझा जाता था। उसकी मारक एवं दाहक क्षमता सर्वोपरि बताई जाती थी पर अब यह सिद्ध हो गया है कि लेजर किरणें अणु विस्फोट से उत्पन्न हुई शक्ति की अपेक्षा अधिक घातक एवं दाहक हैं। अणु विस्फोटों से उत्पन्न रेडियो विकिरण का प्रभाव लंबे समय तक बना रहता है और प्राणियों तथा वनस्पतियों के ऊपर घातक प्रभाव डालता है। लेजर किरणों से दूषित विकिरण उत्पन्न नहीं होता। अत: इसके उपयोग को प्रमुखता दी जा रही है। प्रकाश की सतरंगी किरणें सामान्यत: सम्मिलित ढंग से मेले-ठेलों में चलने वाली भीड़ की तरह चलती हैं। लेजर किरणें भी उन्हीं में घुली-मिली रहती हैं। परमाणु के नाभिक में सन्निहित प्रचंड शक्ति को प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार जटिल वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ पूरी करनी पड़ती हैं, उसी प्रकार लेजर किरणों को भी अलग करने के लिए अनेकों प्रकार के प्रयोग करने होते हैं। किंतु जब उन्हें अन्य किरणों से अलग कर दिया जाता है तो वे अद्‌भुत चमत्कार प्रस्तुत करती हैं। ये अद्‌भुत शक्तिसंपन्न होती हैं। इनके द्वारा मोटी इस्पात की चादर में भी बारीक छेद करना हो तो सेकंड के हजारवें भाग जितने नगण्य समय में किया जा सकता है। शुद्ध अवस्था में इन किरणों का तापक्रम सामान्यत: ६००० डिगरी सेंटीग्रेड होता है। मजबूत हीरे में भी पतला छेद लेजर किरणों द्वारा किया जा सकता है। इनका अधिकतम तापक्रम १८०० डिगरी तक देखा गया है।

'लेजर' उत्पादन के लिए मुख्यत: 'लालमणि' माध्यम का उपयोग होता है। यह एल्यूमिनियम और ऑक्सीजन का यौगिक है। जिस यंत्र के माध्यम से लेसर किरणों का उत्पादन किया जाता है, वह चार इंच मोटा लाल रंग का छोटा उपकरण होता है। उसमें क्रोमियम परमाणु द्वारा प्रकाश के हरे अथवा पीले वर्ग को उत्तेजित किया जाता है। इस प्रकार डिस्चार्ज लैंप द्वारा एक सेकंड के हजारवें भाग जितने समय में प्रकाश उत्पन्न करके लाल रंग की किरणों से 'लेजर' प्राप्त किया

जाता है। अब तक जो लेजर किरणें प्राप्त की गई हैं, उनकी अधिकतम मोटाई एक इंच के दस लाखवें हिस्से के बराबर है। भविष्य में इससे भी अधिक समर्थ लेजर शक्तिधाराएँ प्राप्त होने की संभावना है।

शक्ति का प्रयोग दोनों ही दिशाओं में किया जा सकता है– सृजनात्मक अथवा ध्वंसात्मक। अणुशक्ति का प्रयोग परमाणु बमों जैसे विनाशक शस्त्रों में तथा अणु भट्ठियाँ लगाने में, दोनों ही रूप में हुआ है। लेजर किरणों से भी दोनों ही प्रकार की संभावनाएँ हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में इनकी चमत्कारी सामर्थ्य का उपयोग भी किया गया है। अमेरिका के कुछ डॉक्टरों ने आँख जैसे नाजुक अंग के ट्यूमर को इन किरणों के सहारे सेकंड के लाखवें भाग जितने समय में जलाकर नष्ट कर दिया जबकि आँख के ट्यूमर का ऑपरेशन चिकित्सकों के लिए एक खतरनाक और जोखिम भरा कार्य बना हुआ है। निकट भविष्य में लेजर किरणों के सदुपयोग की उज्ज्वल संभावनाएँ भी हैं। मानव श्रम और समय का एक बहुत बड़ा भाग इनके उपयोग द्वारा बचाया जा सकेगा। इनके सहारे टेलीफोन की वार्त्ताओं और टेलीविजन के कार्यक्रमों में सहयोग मिलेगा।

दूसरे ग्रहों की खोजबीन के लिए अब तक खरचीले रॉकेट, उपग्रहों को भेजने की परंपरा है। वैज्ञानिकों का मत है कि इन किरणों द्वारा सौरमंडल ही नहीं उससे बाहर के ग्रह-नक्षत्रों के बारे में भी बहुत कुछ सीखा और जाना जा सकेगा। इस दिशा में प्रयोग भी चल पड़े हैं और सफलता भी मिली है। पिछले दिनों लुईस्मिलन तथा जिर्जी नामक दो वैज्ञानिकों ने चंद्रमा पर लेजर किरणें भेजीं। वे चंद्रमा पर पहुँची तथा मात्र दो सेकंड में वापस आ गईं। उनसे वे सारी जानकारियाँ मिल गईं जो चंद्रयान द्वारा गए चंद्रयात्रियों से प्राप्त हुई थीं। 'लेजर' की अद्‌भुत और अभूतपूर्व शक्ति का उपयोग विद्युत उत्पादन कार्यों के लिए भी सोचा जा रहा है।

लेजर किरणों के सदुपयोग द्वारा रचनात्मक दिशा में समृद्धि-संवर्द्धन का जितना लाभ उठाने की कल्पना की गई है उससे भी

अधिक आशंका उसके दुरुपयोग द्वारा होने वाले सर्वनाश की है। इनके प्रचंड तापक्रम १८ हजार सेंटीग्रेड पर हर वस्तु भाप बनकर हवा में उड़ सकती है। लेजर किरणों से अचूक निशाना साधा जा सकेगा। परमाणु बमों को निर्धारित स्थान पर गिराने में भी इनसे सहयोग मिलेगा। आकाश में उड़ते वायुयान ही नहीं अंतर्गृही खोज पर निकले रॉकेटों को भी लेजर किरणों द्वारा जलाकर भस्म किया जा सकेगा। मत्यु किरण के रूप में जहाँ भी उसका प्रयोग किया जाएगा, वहाँ भूखंड वीरान खंडहर का रूप धारण कर लेंगे और जीवन का कहीं-कोई चिह्न अवशेष नहीं बचेगा, क्योंकि उच्च तापक्रम पर सभी वस्तुएँ एवं जीवधारी जल-भुनकर भाप बनकर हवा में उड़ जाएँगे।

परमाणु विस्फोटों के उपरांत निकलने वाली प्रचंड ऊर्जा का अभी तक पूरा उपयोग नहीं हो पाता था, किंतु लेसर किरणों के माध्यम से यह संभव हो सकेगा। जनरल कर्टिस ई. लियो नामक एक वैज्ञानिक का विश्वास है कि अगले दिनों विमानवेधी तोपें बीते युग की स्मृतियाँ मात्र रह जाएँगी। हलकी सी लेजरगन ही अपने निशाने पर अचूक वार करेगी और उसे देखते ही देखते धराशायी कर देगी। इसकी प्रचंड मारक क्षमता के कारण वैज्ञानिकों ने उन्हें मृत्युकिरण का नाम दिया है।

इस प्रकार लेजर किरणों का सदुपयोग जहाँ मनुष्य जाति के लिए वरदान है, वहीं दुरुपयोग अभिशाप भी सिद्ध हो सकता है। यह मनुष्य के ऊपर पूर्णतया निर्भर करता है कि वह किस दिशा में इसका प्रयोग करे? पिछले दिनों ध्वंस के लिए प्रयुक्त हुई विज्ञान की शक्ति द्वारा मनुष्य जाति ने गँवाया अधिक पाया कम है। विवेकशीलता की माँग है कि मानवी बुद्धि अपनी वर्तमान गतिविधियों पर पुनर्विचार करे और निर्णय ले कि उसे जीना है या मरना? यदि उसे अपना अस्तित्व सुरक्षित रखना है तो अविलंब शक्ति के दुरुपयोग को रोकना और सृजन की ओर मोड़ना होगा। विवेकशीलता और प्रगतिशीलता इसी में सन्निहित है कि बुद्धि के हाथ लगा विज्ञान कल्याणकारी दिशा में लगे।

❐

विश्वशांति सृजन प्रयत्नों से ही संभव होगी

'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में दिए गए 'यूनाइटेड नेशन्स एजूकेशनल साइंटिफिक एंड कल्चरल आरगेनाइजेशन' के १९८० के रिपोर्टानुसार विश्व में प्रतिवर्ष एक खरब बहत्तर अरब अठावन करोड़ बीस लाख डालर सैन्य शक्ति एवं अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में खरच किया जाता है। यह राशि विश्व की समूची आय का ७.२ प्रतिशत है– प्रतिवर्ष संसार में शिक्षा पर होने वाला व्यय एक खरब उन्नीस अरब है। यह कुल आय का पाँच प्रतिशत है। स्वास्थ्य रक्षा पर खरच की जाने वाली प्रतिवर्ष की राशि है–५८ अरब ७३ करोड़ ३५ लाख डालर जो कुल आय का २-५ प्रतिशत पड़ता है।

वर्ष १९७० में विभिन्न राष्ट्रों ने सुरक्षा के नाम पर सैन्य शक्ति एवं अस्त्रों के निर्माण में जो राशि व्यय की, उनके आँकड़े इस प्रकार हैं– यू. एस. ए. ७४ अरब ४० करोड़ डालर, यू. एस. एस. आर. ३९ अरब ७७ करोड़ ८० लाख डालर, पश्चिम जर्मनी ६ अरब ११ करोड़ १० लाख डालर, फ्रांस ५ अरब ८७ करोड़ ४० लाख डालर, ब्रिटेन ५ अरब ७१ करोड़ २० लाख डालर, इटली २ अरब ४१ करोड़ ६० लाख डालर, पोलैंड २ अरब २ करोड़ डालर, पूर्वी जर्मनी १ अरब ९९ करोड़ डालर, कनाडा १ अरब ७४ करोड़ १० लाख डालर, चेकोस्लाविया १ अरब ६३ करोड़ ५० लाख डालर, भारत १ अरब ४६ करोड़ ७० लाख डालर, आस्ट्रेलिया वर्ष १९७९ १ अरब २७ करोड़ डालर, यू. ए. आर. १ अरब २७ करोड़ २० लाख डालर, स्वीडन १ अरब १२ करोड़ ९० लाख डालर और इजराइल १ अरब ७ करोड़ ५० लाख डालर। यह उन प्रमुख देशों के आँकड़े हैं जो प्राप्त हो सके हैं। अन्य राष्ट्रों के अप्राप्त हैं। वर्ष १९७१ के नए आँकड़ों के अनुसार सुरक्षा के नाम पर व्यय की जाने वाली कुल राशि १ खरब ७२ अरब ५८ करोड़ २० लाख डालर तक जा पहुँची है।

पाश्चात्य विचारक गिब्बन ने बहुत समय पूर्व कहा था कि मनुष्य को प्रकृति-प्रकोपों एवं वन्य हिंसक पशुओं से उतना डरने की आवश्यकता नहीं जितना कि अपने सजातियों से। उनकी यह आशंका अकारण नहीं है। सुरक्षा के नाम पर बढ़ता हुआ खरच और नित्य नए घातक शस्त्रों का निर्माण इस बात का परिचायक है कि मानवी स्नेह-सौहार्द्र की भावना किस तेजी से लुप्त होती जा रही है। मनुष्य दिन-प्रतिदिन हिंसक बनता जा रहा है। शस्त्रों के निर्माण एवं संचय से विश्वव्यापी तनाव बढ़ता जा रहा है और तृतीय विश्वयुद्ध की आशंका और भी प्रबल होती जा रही है।

पिछले युद्धों में मानव जाति ने क्या गँवाया और क्या पाया, इसका लेखा-जोखा लेने पर पता चलता है कि उसने गँवाया ही अधिक है-पाया कुछ नहीं। इस सदी में हुए युद्धों एवं उनमें मारे जाने वाले व्यक्तियों के कुछ आँकड़े इस प्रकार हैं-वर्ष १९०४-०५ में रूस और जापान के बीच हुए युद्ध में एक लाख तीस हजार व्यक्ति मारे गए। सन् १९१२-१३ में लड़े गए वाल्कन युद्ध में मरने वालों की संख्या दो लाख थी। स्पेन के गृह-युद्ध १९३२-३९ में चार लाख इकत्तीस हजार सैनिक तथा दो लाख पच्चीस हजार गैर-सैनिक हताहत हुए। १९५०-५३ के कोरिया युद्ध में पाँच लाख ८१ हजार आठ सौ २३ सैनिक तथा चार लाख गैर-सैनिक दिवंगत हुए। सन् १९१४ से १९१८ तक चलने वाले प्रथम विश्वयुद्ध में मरने वाले सैनिकों की संख्या ४४ लाख १८ हजार तथा गैर-सैनिकों की संख्या १३ लाख थी। द्वितीय विश्वयुद्ध १९३९-४५ में बढ़कर यह संख्या क्रमशः १ करोड़ ६९ लाख ३३ हजार तथा तीन करोड़ ४३ लाख ५ हजार तक जा पहुँची। सन् १९६२ से १९७५ तक चले वियतनाम युद्ध में कुल मरने वालों की संख्या ४० लाख तक आँकी गई।

मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में जैसे-जैसे प्रगति की है उसी के अनुरूप युद्धों में भी अभिवृद्धि हुई है। उपर्युक्त आँकड़े प्रमुख युद्धों के हैं। इनके अतिरिक्त भी छोटे-छोटे अनेकों युद्ध हुए हैं। पिछले सात दशकों में

जितने युद्ध हुए हैं, उनकी संख्या इस प्रकार है–सन् १८९८ से १९०७ तक ९, १९०८ से १९१७ तक १५, १९१८ से १९२७ तक ११, सन् १९२८ से १९३७ तक ८, १९३८ से १९४७ तक १२, सन् १९४८ से १९५७ तक २८, सन् १९५८ से १९६७ तक ४५, १९६७ के बाद के ठीक-ठीक आँकड़े प्राप्त नहीं, पर अनुमान है कि इनकी संख्या भी ७० से अधिक होगी।

युद्धों में जनशक्ति ही नहीं विपुल धनशक्ति भी नष्ट होती है। औसतन युद्धों में एक व्यक्ति को मारने के खरच में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। दो हजार वर्ष पूर्व प्रति व्यक्ति को मारने में लगभग आधा डालर अर्थात डालर के वर्तमान मूल्य के अनुसार चार रुपये खरच आता था। नेपोलियन के समय बढ़कर यह खरच ३ हजार डालर हो गया। प्रथम विश्वयुद्ध में एक सैनिक को मारने में औसत खरच २१ हजार डालर आया। द्वितीय विश्वयुद्ध में यह खरच बढ़कर २ लाख डालर हो गया। अनुमानतः इस युद्ध में २५० खरब डालर से लेकर ४०० खरब डालर तक खरच हुए।

यह है अब तक हुए युद्धों में नष्ट हुई जनशक्ति और धनशक्ति का इतिहास जो विचारशील कहे जाने वाले मनुष्य को सबक देने के लिए पर्याप्त है। इन दिनों की परिस्थितियाँ तो और भी अधिक भयावह हैं। पिछले दिनों यंत्रों की दुनियाँ में इतना विकास नहीं हुआ था। आज जैसे विनाशकारी परमाणु बम नहीं थे। यदि युद्ध छिड़ता है तो मनुष्य जाति अपना अस्तित्व सुरक्षित भी रख सकेगी अथवा नहीं, इसमें संदेह है। संपूर्ण सभ्यता को रौंदने के लिए कुछ मिनट ही पर्याप्त होंगे।

इतिहास के पन्ने पलटने पर पता लगता है कि मनुष्य ने अपने प्रयत्न, पुरुषार्थ से अनेकों शक्तियाँ अर्जित कीं किंतु समाज एवं राष्ट्र अथवा मानवमात्र को कुछ दे सकने में वे समर्थ हो सके जिन्होंने इसका सदुपयोग किया, सृजन के कार्यों में लगाया, सदुपयोग के लिए नियोजित शक्ति की पूजा अर्चना की। भारतीय संस्कृति ने राम, कृष्ण, बुद्ध, दुर्गा

की उपासना पर बल दिया। शक्ति तो रावण, कंस, हिरण्यकशिपु को भी प्राप्त थी किंतु अत्याचार, हिंसा, अनैतिकता को बढ़ावा देने में प्रयुक्त उनकी सामर्थ्य का तिरस्कार किया गया। उनके पुतले जलाए गए। हिटलर, नेपोलियन, सिकंदर, मुसोलिनी की सामर्थ्य कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, उसे हर कोई जानता है। किंतु उन्होंने विश्व में कितना कहर ढाया, इसे भी सभी जानते हैं। उनके कुकृत्यों की गवाही इतिहास के पन्ने सदा देते रहेंगे। जहाँ इनके कुकृत्यों ने समाज को पतन की ओर घसीटा वहीं महापुरुषों के योगदान से समाज पुष्पित-पल्लवित हुआ। सुख-शांति की वृद्धि हुई। मानव समाज का मस्तक उनकी श्रेष्ठता के प्रति झुक जाता है। प्रकाश स्रोत के समान उनके त्याग-बलिदान सदा प्रेरणा देते रहेंगे।

शरीरबल बुद्धि से कम महत्त्व धन का भी नहीं है। सृजनात्मक दिशा में इसका प्रयोग सुख-शांति की अभिवृद्धि में अपना योगदान दे सकता है। पिछले दिनों मनुष्य ने संपत्ति का जितना सदुपयोग किया उससे कहीं अधिक दुरुपयोग किया। सृजन की अपेक्षा ध्वंस कार्यों में अधिक लगाया गया। फलस्वरूप साधना का उपयोग सुख-शांति के विकास में किया जा सकता था। उसका एक बड़ा भाग ध्वंस में प्रयुक्त किया जा रहा है। कुछ दिनों पूर्व रूमानिया के विशेषज्ञों की रिपोर्ट में किए गए उस खोज का विवरण दिया गया कि विध्वंसक यंत्रों में संपत्ति का कितना बड़ा भाग नियोजित हो रहा है। विशेषज्ञों के अनुसार विश्व में औसतन एक मिनट में दस लाख डालर (८० लाख रुपये) हथियारों के निर्माण में खरच किए जाते हैं। इस धन से पाँच हजार टन गेहूँ या चार हजार टन दूध प्राप्त किया जा सकता है। इससे लाखों व्यक्तियों को रोटी तथा करोड़ों बच्चे जो दूध के अभाव में कुपोषण के शिकार हो रहे हैं, उनको पोषक आहार मिल सकता है।

इस प्रकार मात्र एक मिनट शस्त्रास्त्रों का निर्माण रोक दिया जाए तो उसकी बचत से एक सौ परिवारों की आजीविका की व्यवस्था की जा सकती है। छोटे-छोटे तीन सौ मकान बनाए जा सकते हैं जिनमें

गरीबों के लिए निवास की व्यवस्था हो सकती है। एक सामान्य राइफल बनाने में २५०० रुपये खरच होते हैं, इससे एक आधुनिक हल तैयार हो सकता है। मशीनगन पर १२००० रुपये की लागत आती है जिससे एक ट्रैक्टर बनाया जा सकता है। एक युद्ध बमबार बनाने में ७२ करोड़ रुपये खरच होते हैं। इस धन से आधुनिक चिकित्सा यंत्रों से सुसज्जित १६ अस्पताल खोले जा सकते हैं। रोग निवारण एवं स्वास्थ्य संवर्द्धन का लाखों व्यक्ति इससे लाभ प्राप्त कर सकते हैं। बारह अरब रुपये में एक पनडुब्बी बनती है। इससे शिक्षा प्रदान करने के लिए दस हजार विद्यालय चल सकते हैं।

एक मिनट में ८० लाख रुपये पूरे विश्व में संहारक यंत्रों के लिए नष्ट किए जाते हैं। एक दिन में ११५२०० लाख रुपये तथा एक माह में ३४५६००० लाख रुपये का अपव्यय विनाशकारी यंत्रों के लिए किया जाता है। एक वर्ष का हिसाब जोड़ा जाए तो यह संख्या ४१४७२००० लाख रुपये तक जा पहुँचती है। यह संख्या चौंकाने के लिए पर्याप्त है। इस पूँजी से कितनी योजनाएँ बन सकती हैं? लाखों छोटे-छोटे उद्योग खड़े किए जा सकते हैं, अरबों व्यक्तियों को रोजी-रोटी मिल सकती है। अभाव, दुःख-क्लेश का साम्राज्य सारे विश्व में छाया हुआ है, उनके निवारण में इस पूँजी को लगाया जा सके तो कुछ ही वर्षों में सारे संसार से अभाव को समाप्त किया जा सकता है।

यह खरचा तो अभी उन संग्राहक यंत्रों पर किया जाता है जो युद्ध के लिए प्रत्यक्ष रूप से प्रयुक्त होते हैं। परोक्ष मारक यंत्रों में मादक द्रव्य, शराब, सिगरेट भी कम घातक नहीं। इसके उत्पादन में बहुत बड़ी पूँजी लगी हुई है। भारत में तंबाकू उद्योग में लगभग ४१ अरब ६ करोड़ ४० लाख की पूँजी लगी है। अनुमान किया है कि भारत में लगभग १० करोड़ व्यक्ति बीड़ी-सिगरेट पीते हैं। इस प्रकार प्रतिवर्ष करीब ७२० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय क्षति उठानी पड़ती है। शराब उद्योग में तो और भी अधिक पूँजी लगी है। यदि प्रतिवर्ष होने वाली शराब की क्षति को बीड़ी-सिगरेट से होने वाली क्षति के बराबर ही माना जाए तो यह पूँजी १४४० करोड़ तक जा पहुँचती है।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ध्वंस के प्रति मानवी उत्साह उसे विनाश के कगार पर घसीटता ले जा रहा है। बढ़ते हुए कदम यह बताते हैं कि सृजन से मनुष्य कितना विमुख होता जा रहा है? धनशक्ति के इस बढ़े भाग का यदि दुरुपयोग रोका जा सके तथा इसका उपयोग संसार में फैले दु:ख, क्लेश के निवारण में किया जा सके तो अच्छा है।

संसार में १५० करोड़ से अधिक मनुष्य ऐसे हैं, जिनकी आय ५०० रु. वार्षिक से भी कम है। मात्र ४० रु. मासिक पर निर्वाह करने वाली जनता में आधी ऐसी है जिसका औसत और भी गया-गुजरा है। उन्हें भरपेट रोटी और तन ढकने को कपड़ा जीवन में कभी-कभी ही मिल पाता है। अधिकतर तो आधा पेट खाकर ही किसी प्रकार सोते हैं और फटे-चिथड़ों से अपनी लाज ढकते हैं।

दरिद्रता निवारण के लिए क्या कुछ नहीं किया जा सकता? क्या इस दिशा में सहयोग देने में सचमुच ही लोग असमर्थ हैं? विशेषज्ञों का कहना है कि प्रगति और वर्चस्व का दावा करने वाले दो बड़े राष्ट्र रूस और अमेरिका मिल-जुलकर ही यदि कुछ काम करें तो बहुत कुछ हो सकता है। इन दोनों राष्ट्रों में जितनी धनशक्ति एवं जनशक्ति युद्ध कार्यों में लगी है, उसे यदि पीड़ित मानवता को ऊँचा उठाने में लगा दिया जाए तो उन पौने दो करोड़ व्यक्तियों की आमदनी कुछ माह के अंदर ही ठीक दूनी हो सकती है। ५०० रुपये वार्षिक के स्थान पर १००० रु. वार्षिक प्राप्त करने लगेंगे। दरिद्र स्थिति से ऊपर उठकर सामान्य जीवनयापन की आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं।

इस धन का सदुपयोग यदि दूसरे वर्ष मकान-निर्माण में किया जाए तो लगभग २० करोड़ मनुष्यों के रहने के लिए नए मकान प्राप्त हो सकते हैं जो आज वन्य पशुओं के समान जीवनयापन कर रहे हैं। प्रथम वर्ष मकान, द्वितीय वर्ष गृह उद्योग, तृतीय में शिक्षा, चौथे में स्वास्थ्य, पांचवे में बिजली, बाँध, यातायात, संचार की योजनाएँ बनाई जाएँ तो पहले पंचवर्षीय योजना में ही पौने दो अरब अर्थात लगभग आधी दुनिया के व्यक्तियों का भाग्य पलट सकता है। इतना तो रूस और अमेरिका जैसे राष्ट्र अकेले कर सकते हैं। फिर यदि संसार के

अन्य देश इस दिशा में कदम बढ़ाने लगें तो फिर समझना चाहिए कि पिछड़ी हुई दुनियाँ का अंत ही हो जाएगा। पीड़ा-पतन का दृश्य कहीं नहीं दिखाई देगा।

ध्वंस की प्रतिक्रिया एवं परिणामों से हर कोई परिचित है। यह जानते हुए भी सृष्टि का मुकुटमणि कहलाने वाला मनुष्य ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों की ओर निरंतर बढ़ता जा रहा है। प्रत्येक राष्ट्र में घातक शस्त्रों के निर्माण की होड़ सी चल पड़ी है। प्रगति का मापदंड तथाकथित विचारशील व्यक्तियों द्वारा इस आधार पर लगाया जा रहा है कि कौन राष्ट्र कितने विनाशक यंत्र का निर्माण कर सकता है अथवा कर चुका है। बुद्धि का दंभ भरने वाला मनुष्य प्रगतिशील होने का दावा यदि इस आधार पर करता है कि हमने अधिक विनाशक यंत्रों का निर्माण कर लिया अथवा कर रहे हैं तो यह कहना होगा कि आज विकसित कहे जाने वाले मनुष्य की अपेक्षा पाषाण युग की आदिम जातियाँ अधिक प्रगतिशील थीं। जीव-जंतु जो अधिक हिंसक हैं, वे भी अधिक प्रगतिशील कहे जाएँगे।

मापदंड का आधार यदि यही रहा तो सारी परिभाषाएँ उलट जाएँगी। संस्कृति सभ्यता का मानवी आधार विशृंखलित हो जाएगा। सोचने का क्रम यदि यही रहा तो फिर पुरानी मान्यताएँ भी बदल जाएँगी। राम के स्थान पर रावण की पूजा होगी। हिटलर नेपोलियन ही मानव के आदर्श होंगे। इस विभीषिका की कल्पना मात्र से हृदय काँप उठता है।

आवश्यकता इस बात की है कि सृजन का महत्त्व समझा जाए। ध्वंस के लिए प्रयुक्त हो रही विपुल संपत्ति को रोका जाए। संसार में फैली हुई दरिद्रता, रोग, क्लेश निवारण के लिए उसका प्रयोग किया जाए। मनुष्य की विचारशीलता एवं श्रेष्ठता इसमें ही निहित है।

❑❑❑

मुद्रक-युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)